

शतक

सप्ततिका

कषायप्राभु

सतकर्मप्राभु

कर्मप्रकृति

श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

मूल-शब्दार्थ एवं विवेचन युक्त

हिन्दी व्याख्याकार

महधर केंसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

शशिपयोगशास्त्र

बन्धक

बन्धव्य

बन्धहेतु

बन्धविध

संपादक - देवकमाव जैन

श्री चन्द्रषि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[बंधक-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक ढरुधरकेसरी
श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्प्रेरक

श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

- श्री चन्द्राषि महत्तर प्रणीत
पंचसंग्रह (२)
(बंधक-प्ररूपणा अधिकार)
- हिन्दी व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक श्री मिश्रीमल जी महाराज
- संयोजक-संप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि
- सम्पादक
देवकुमार जैन
- प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
- प्रथमावृत्ति
वि० सं० २०४१, पौष, जनवरी १९८५

लागत मात्र १०/- दस रुपया सिर्फ

- मुद्रण
श्रीचन्द्र सुराना 'सरस' के निदेशन में
एन० के० प्रिंटेर्स, आगरा

श्रमणसूर्य प्रवर्तक गुरुदेव
श्री मिश्रीभलजी महाराज

विद्याभिलाषी श्री सुकन भुनि



प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तार पूर्वक कर्मसिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३६ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया— 'मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो।' उस समय यह बात सामान्य लग रही थी, किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वगंगास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है।

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति अपने प्रकाशन सम्बन्धी कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर पूर्ण करवा रही है। इस भाग के प्रकाशन में ब्यावर निवासी श्रीमान् मीठालाल जी तालेड़ा ने अपने स्व० पिताश्री घेवरचन्द जी तालेड़ा की पुण्यस्मृति में अर्थ-सहयोग प्रदान करने का वचन दिया है, समिति आपके अनुकरणीय सहयोग के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करती है और आशा करती है कि भविष्य में भी इसी प्रकार अन्य उदार सद्गृहस्थों का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

मन्त्री

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
ब्यावर

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्धदशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कम्मं च जाई मरणस्स मूलं। भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तर-वर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकेड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेव श्री के मार्गदर्शन में पंचसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारंभ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इससे सभी लाभान्वित होंगे।

—सुकनमुनि

सम्पादकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्राषि महत्तरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड़) में विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैः कथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—
चरैवैति-चरैवैति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया।

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गार्थार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थं कृतज्ञ हूँ। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधराभूषण श्री सुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सस्नेह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादाहर्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्वलना मानकर त्रुटि का संशोधन, परि-मार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्प्यते ।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भांति व्यापक और सीमासीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट् व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज !

पता नहीं पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भांति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेज-स्विता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यौवन की नदी बुढ़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएं व्यापक बनती गईं, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएं बनकर गांव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अंतिम घड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणों को छूता रहा।

लड्डू का जैसे प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार, गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलबिन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा । उनके जीवन-सागर की गहराई में उतरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियां हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौन सा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था । उदारता, सहिष्णुता, दया-लुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्वक्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे । उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है । महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्
 मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशेः

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उचालें खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियां सामने दीखतीं जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हैं ।

जीवन रेखाएं

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० सं० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर में हुआ ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया । १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ । उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये । काल का ग्रास बनते-बनते बच गये ।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड़ आई । उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कंठा जग

पड़ी। इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १६७५, माघ वदी ७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया। वि. सं. १६७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षारत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र में ही आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया।

वि. सं. १६८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विका-सोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानांगसूत्र-वर्णित चार शिष्यों (पुत्रों) में आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढ़ाता रहता है।

वि. सं. १६९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरु-धरकेसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे। समय-समय पर टूटती कड़ियाँ जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत् श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्यसम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़ कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसंघ के गौरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकड़ों काव्य, हजारों पद-छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरु गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अतूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के सान्निध्य में ही पंचसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निदेशन में सम्पन्न हो रहा है।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आपश्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोकाशाह गुरुकुल (सादड़ी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन संस्थाएँ शिक्षा और साहित्य सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देदराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज-सेवा की, आप एक अकिंचन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी संस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्संकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुंच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावन्त रहते। यही है सच्चे संत की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा में रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियां होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसंघ और मरुधरा के उस महान संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम व्योम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शव-यात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताब्दियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से संकुल शव-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने ट्रैक्टरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर आये थे। इस प्रकार उस महा-पुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा, उससे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रोचरणों में शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

उदार अर्थ सहयोगी



श्रीमान मोठालालजी तालेडा



श्रीमान घेवरचन्दजी तालेडा

उदार अर्थ-सहयोगी

श्रीमान् मीठालाल जी तालेड़ा

स्व० श्रीमान् मूलचंदजी तालेड़ा के सुपौत्र एवं स्व० धेवरचंदजी तालेड़ा के सुपुत्र सरलमना, दानवीर, सुश्रावक श्री मीठालाल जी तालेड़ा का जन्म राजस्थान की पवित्र भूमि ब्यावर में संवत् २००० में स्व० श्रीमती मेहताबबाई को कुक्षि से हुआ। आप अपने पिताजी माताजी के इकलौते पुत्र हैं। आपकी तीन बहनें सम्पन्न आदर्श परिवार में ब्याही गई हैं। बचपन में आपका विद्याध्ययन ब्यावर में शान्ति जैन विद्यालय में हुआ। आपके पिताजी सतत धर्मध्यान में लीन रहते थे। कोई भी संत-सतीजी महाराज सा० का पदार्पण होता अथवा दर्शन करने का अवसर होता, वे तुरन्त भक्ति भाव से दर्शन, वन्दन और सेवा में लग जाते। आपके माताजी भी इसी प्रकार गृहकार्यों से निवृत्त होकर संत-सतियांजी की सेवा में स्थानक में पधार कर धर्म-ध्यान करते तथा प्रभु भक्ति, धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय और माला जपने में लीन रहते थे। ऐसे आदर्श धार्मिक संस्कारों से परिपूर्ण परिवार के इकलौते पुत्ररत्न श्री मीठालाल जी भी धर्मानुरागी, सरलहृदय, परोपकारी, दानवीर, युवाहृदय, समाज एवं राष्ट्र के सच्चे सेवक और एक कुशल व्यापारी हैं।

युवावस्था के प्रारम्भ में आप अपनी बड़ी बहन-बहनोई जी श्री घीसुलाल जी कांठेड़ के यहाँ पर मद्रास आये और व्यापार एवं व्यवहार की कला सीखी। तत्पश्चात् सन् १९६१ में कोडम्बाकम, आरकाट रोड, मद्रास में निजी व्यापार आरम्भ किया। १९६२ में बिलाड़ा निवासी श्रीमान बालचंद जी तातेड़ की सुपुत्री पुष्पादेवी के साथ पाणिग्रहण हुआ। तत्पश्चात् व्यापार में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती रही। पूर्वजों की पुण्यवानी से व्यापार में अच्छी वृद्धि के साथ-साथ समाज में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। जीवन में कई तरह के उतार-चढ़ाव आये,

संकट भी आये, लेकिन आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पाबाई हर तरह से समय-समय पर साहस और हिम्मत के साथ सहभागी बन कर जीवन की हर बाधाओं का सामना करते हुए आगे बढ़ाते रहे। सर्वसंपन्न परिवार में आपके तीन लाड़ले पुत्र सुकुमार हैं और एक लाड़ली सुपुत्री है। समय-समय पर जब भी कोई धार्मिक एवं सामाजिक टीप लेकर उपस्थित होते हैं, उन्हें ससम्मान अच्छी टीप चढ़ाकर प्रोत्साहित करते हैं। राजस्थान में ब्यावर में अपने पूज्य पिताजी एवं माताजी की पुण्यस्मृति में एक कमरा आयुबिल खाते में मेवाड़ी गेट के पास निर्मित भवन में आपने बनवाया और वड़पलनी कोडम्बाकम मद्रास के जैन भवन में नीचे वाला हाल आपने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में बनवाया। और भी कई सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं के आप सक्रिय कार्यकर्ता हैं।

आप पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी जी म. के अनन्य भक्तों में से एक हैं। जैन समाज को गौरव है ऐसे सेवाभावी लाल को पाकर। प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रकाशन में आपका उदार एवं अनुकरणीय सहयोग प्राप्त हुआ है।

संस्था की तरफ से शत-शत धन्यवाद।

मंत्री

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
ब्यावर

प्राक्कथन

यह पंचसंग्रह ग्रन्थ का 'बन्धक-प्ररूपणा' नामक अधिकार है। प्रथम योगोपयोगमार्गणा अधिकार से अनन्तरवर्ती होने से इसका क्रम दूसरा है।

योगोपयोगमार्गणा के पश्चात् बन्धक-प्ररूपणा इसलिए की है कि जो योग और उपयोग दोनों से सहित हैं, वे ही जीव कर्म के बन्धक हैं। उपयोग जीव का स्वभाव है। जो उपयोगवान हैं, उपयोग में ही अवस्थित हैं, वे जीव कर्म के बन्धक नहीं होते हैं। लेकिन उपयोग के साथ जब तक आत्मा के वीर्य गुण की परिस्पन्दनात्मक रूप शक्ति—योग का सम्बन्ध है, तभी तक जीव कर्म के बन्धक हैं। अथवा यह स्पष्ट करने के लिए की है कि पूर्व में जिन जीवभेदों में योग और उपयोग के विविध भेदों का अन्वेषण किया गया है, वे ही संसारी जीव कर्म के बन्धक हैं, अन्य नहीं। योग और उपयोगवान जीवों का सम्बन्ध कर्म से है।

संसारी जीव कर्म के बन्धक हैं। अतएव प्रासंगिक होने से कर्म की कार्य-मर्यादा के बारे में यहाँ कुछ संकेत करते हैं।

कर्म का मुख्य और अनिवार्य कार्य जीव को संसार में रोक रखना है। परावर्तन कराते रहना है। परावर्तन संसार का दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से और भव को जोड़ देने से परावर्तन चार या पांच प्रकार का है। कर्म के कारण ही जीव इन परावर्तनों में घूमता-फिरता है। चार गति और चौरासी लाख योनियों में रहे हुए जीवों की जो विविध अवस्थायें होती हैं, उनका मुख्य कारण कर्म है। जब तक जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध है तब तक वह परावर्तन रूप संसार में इस प्रकार से घूमता रहता है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदीसु गदी ॥

गदमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
 तेहिं दु विसयग्रहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥
 जायदि जीवस्सेवं भावो संसारच्चक्कवालम्भि ।

—पंचाध्यायी १२८-२९-३०

जो जीव संसार में स्थित है उसके रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है, इससे शरीर होता है। शरीर के प्राप्त होने से इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है। विषयग्रहण से राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार जो जीव संसार-चक्र में पड़ा है उसकी यह अवस्था होती है।

आचार्य समन्तभद्र ने संक्षेप में कर्म के कार्य का संकेत इस प्रकार किया है—

कामादिप्रभवदिचत्रः कर्मबन्धानुरूपतः ।

—आप्तमीमांसा

जीव की काम-क्रोध आदि रूप विविध अवस्थायें अपने-अपने कर्मबन्ध के अनुरूप होती हैं। इसका कारण यह है कि मुक्त दशा में जीव की जो स्वाभाविक परिणति होती है, उसमें पृथक्-पृथक् निमित्तकारण नहीं, किन्तु संसारी जीव की प्रतिसमय की परिणतियां जुदी-जुदी होती रहती हैं। इसलिए उनके अलग-अलग निमित्तकारण माने गये हैं, जो आत्मा के साथ संस्कार रूप में सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणति उत्पन्न करने में सहायता देते हैं। जीव की शुद्धता और अशुद्धता उन निमित्तों के सद्भाव, असद्भाव पर आधारित है। जब तक ये निमित्त एक क्षेत्रावगाह रूप से संश्लिष्ट रहते हैं, तब तक अशुद्धता बनी रहती है और इनका सम्बन्ध छूटते ही जीव शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है। जैनदर्शन में इन्हीं निमित्तों को कर्म कहा है।

पूर्वोक्त संकेतों से कर्म की कार्यमर्यादा ज्ञात हो जाती है कि कर्म के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्थायें होती हैं और जीवों में ऐसी योग्यता आती है, जिससे योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमाते हैं।

लेकिन जनसाधारण का यह विचार है कि कर्मोदय से बाह्य सुख-दुःख के

कारण मिलते हैं। शरीर की निरोगता, सरोगता, सुन्दरता, सामर्थ्य, क्षुधा, तृषा, खेद, पीड़ा आदि का कारण कर्म है। बाह्य इष्ट पदार्थ, स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि सुख-दुःख के निमित्तभूत हो सकते हैं। परन्तु जिसका ऊपर निर्देश किया गया है उस कार्यमर्यादा का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्ति के संयोग-वियोग का कारण नहीं है। क्योंकि अन्तरंग योग्यता के बिना बाह्य सामग्री का कोई महत्त्व नहीं है। जैसे कि वीतराग योगीजनों के समक्ष प्रबल राग की सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है, फिर भी जनसाधारण में प्रवर्तमान कर्मविषयक उक्त धारणा का कारण नैयायिकों का कर्मविषयक दृष्टिकोण है। वे कार्यमात्र के प्रति कर्म को कारण मानते हैं। वे कर्म को जीव / चेतन निष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि चेतनगत विषमताओं का कारण कर्म तो है ही, साथ ही वह अचेतनगत सब प्रकार की विचित्रताओं और उनके न्यूनाधिक संयोगों का भी जनक है। उनके मत से जितने भी कार्य होते हैं, वे किसी न किसी के उपभोग के योग्य होने से उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकों ने समवायी, अममवायी और निमित्त यह तीन प्रकार के कारण माने हैं। जिस द्रव्य में कार्य पैदा होता है, वह द्रव्य कार्य के प्रति समवायीकारण है। संयोग असमवायीकारण है और अन्य सहकारी सामग्री निमित्तकारण है। काल, दिशा, ईश्वर और कर्म ये कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारण हैं। इनकी सहायता के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उन्होंने ईश्वर और कर्म को कार्य के प्रति साधारण कारण होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि जितने भी कार्य होते हैं, वे सब चेतनाधिष्ठित ही होते हैं। इसलिए ईश्वर सबका साधारण कारण है। ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने पर भी जगत में विषमता क्यों व्याप्त है? तो इसका उत्तर नैयायिकों ने कर्म को स्वीकार करके दिया है। वे जगत की विषमता का कारण कर्म मानते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर जगत का कर्ता तो है परन्तु इसकी रचना प्राणियों के कर्मानुसार की है। इसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। जीव जैसा करता है, उसी के अनुसार उसे योनि और भोग मिलते हैं। यदि कर्म अच्छे करता है तो अच्छी योनि और

अच्छे भोग मिलते हैं और बुरे कर्म करने पर बुरी योनि और बुरे भोग मिलते हैं। यही बात सन्त कवि तुलसीदास जी ने इन शब्दों में कही है—

करम प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहि सो तस फल चाखा।

अच्छे लोक के रूप में नैयायिकों की कल्पना स्वर्ग तक सीमित है और उसकी प्राप्ति अच्छे कर्म करने के साथ-साथ ईश्वरेच्छा पर निर्भर है।

कर्मवाद को स्वीकार करने में नैयायिकों की उक्त युक्ति है। वैशेषिकों की भी इससे मिलती-जुलती युक्ति है। वे भी नैयायिकों के समान चेतन और अचेतन गत सब प्रकार की विषमता का साधारण कारण कर्म मानते हैं। यद्यपि इन्होंने प्रारम्भ में ईश्वरवाद पर जोर नहीं दिया, परन्तु परवर्ती काल में इन्होंने भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया।

इस ईश्वरकर्तृत्व को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि आत्मा का अपने अन्तस् में विद्यमान अनन्त शक्ति के प्रति विश्वास डगमगा गया, वह अपने आपको दीन, हीन, अज्ञ समझ कर किकर्तव्यविमूढ़ हो गई और नियति के हाथों अपने आपको सौंप दिया। भाग्य की प्रबलता का प्रचार-प्रसार करने के लिये अनेक सुभाषितों की रचना हुई। जैसे कि पुरुष का भाग्य जागने पर घर बैठे ही रत्न मिल जाते हैं और भाग्य के अभाव में समुद्र में पैठने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं होती है। सर्वत्र भाग्य ही फलता है, विद्या और पौरुष कुछ काम नहीं आता है।

लेकिन जैनदर्शन में बताये गये कर्मसिद्धान्त के विवेचन से इस मत का समर्थन नहीं होता है। जैनदर्शन में कर्मवाद की प्राणप्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधार पर हुई है। वह ईश्वर को तो मानता ही नहीं और निमित्त को स्वीकार करके भी कार्य के आध्यात्मिक विश्लेषण पर अधिक जोर देता है। नैयायिक-वैशेषिकों ने कार्य-कारणभाव की जो रेखा खींची है, वह उन्ने मान्य नहीं है। उसका मत है कि पर्यायक्रम से उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। जितने प्रकार के पदार्थ हैं, उन सबमें यह क्रम चालू है। अनादि काल से यह क्रम चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम आने वाला नहीं है। इसी से

जैनदर्शन ने जगत को अकृत्रिम और अनादि बताया है। इसीलिए वह जगत के कार्यों के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता है, किन्तु जीवमात्र में व्याप्त विषमताओं आदि के कारणरूप में कर्म को स्वीकार करता है। वह जीव की विविध अवस्थाओं, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन के प्रति कर्म को निमित्तकारण मानता है एवं अन्य कार्य अपने अपने कारणों से होते हैं। कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ पुत्र का प्राप्त होना, उसका मर जाना, व्यापार में लाभ-हानि होना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनका कारण कर्म नहीं है। किन्तु भ्रम से इन्हें कर्मों का कार्य समझा जाता है। पुत्र की प्राप्ति होने पर मनुष्य भ्रमवश उसे अपने शुभ कर्म का कार्य समझता है और उसके मर जाने पर भ्रमवश अपने अशुभ कर्म का कार्य मान लेता है, लेकिन क्या पिता के अशुभोदय से पुत्र की मृत्यु या पिता के शुभोदय से पुत्र की उत्पत्ति सम्भव है? कभी नहीं। ये इष्टसंयोग या इष्टवियोग आदि जितने भी कार्य हैं, वे अच्छे बुरे कर्मों के कार्य नहीं हैं। जब प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने कर्म हैं और उनका परिणाम वह स्वयं भोग करता है, तब एक के कार्य के लिये दूसरे को निमित्त कैसे कहा जा सकता है?

कर्मों के भेद और उनके जो नाम गिनाये हैं और उनकी जो परिभाषायें हैं, उनको देखने से भी ज्ञात होता है कि बाह्य सामग्रियों की अनुकूलता और प्रति-कूलता में कर्म कारण नहीं है। ऐसा नहीं होता है कि पहले सातावेदनीय का उदय है और तब इष्टसामग्री की प्राप्ति होती है, किन्तु इष्टसामग्री का निमित्त पाकर सातावेदनीय का उदय होता है, ऐसा है। इसलिए निमित्त और बात है और कार्य दूसरी बात है। निमित्त को कार्य कहना उचित नहीं है।

यद्यपि जैन कर्मवाद की शिक्षाओं द्वारा यह बताया गया है कि जन्म से न कोई दूत होता है और न अदूत। यह भेद मनुष्यकृत है। एक के पास अधिक पूंजी का होना और दूसरे के पास फूटी कौड़ी का न होना, एक का मोटरों में घूमना और दूसरे को भीख मांगते हुए डोलना, यह भी कर्म का फल नहीं है। क्योंकि यदि अधिक पूंजी को पुण्य का फल माना जाये तो अल्प-संतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेगे। किन्तु इन शिक्षाओं का जनता और साहित्य पर कोई असर नहीं हुआ। इसके वास्तविक कारण को खोजा

जाये तो इस स्थिति के लिए नैयायिकों का ईश्वरवाद और कर्मवाद उत्तरदायी है। इसने वर्गभेद, जात-पाँत, सधन-निर्धन की दीवारें खड़ी की। ईश्वर, कर्म के नाम पर यह सब हमसे कराया गया। इसके साथ ही साहित्य में इन बातों का प्रतिपादन करके स्थायी रूप दे दिया गया।

अजैन लेखकों ने तो नैयायिकों के कर्मवाद का समर्थन किया ही किन्तु जैन लेखकों ने भी जो कथासाहित्य लिखा है, उसमें भी प्रायः नैयायिक कर्मवाद का समर्थन किया गया है। वे जैन कर्मवाद के आध्यात्मिक रहस्य को एक प्रकार से भूलते गये। जैन कर्मवाद की सही दृष्टि क्या है, प्राणिमात्र को क्या समझाना चाहता है, इसकी ओर कुछ भी निर्देश न करके नैयायिक कर्मवाद को व्यापक रूप दे दिया। अजैन लेखकों द्वारा और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथासाहित्य को पढ़ जाइये, दोनों का एक ही दृष्टिकोण है, एक ही दृष्टि से विचार करते हैं एवं प्रस्तुतीकरण का रूप भी समान ही है। पुण्य-पाप के वर्णन में दोनों की एकरूपता है। अजैन लेखकों की तरह जैन लेखक भी बाह्य आधारों को लेकर चले हैं, वे जैनमान्यता के अनुसार कर्मों के वर्गीकरण और उनके अवान्तर भेदों को सर्वथा भूलते गये। यही कारण है कि जैन कर्मसिद्धान्त का हार्द समझने के लिये स्वयं जैनों में कोई उत्सुकता, आकांक्षा या लगाव देखने में नहीं आया है। मात्र ऊपरी-ऊपरी कुछ ज्ञान प्राप्त करने अथवा परीक्षार्थियों द्वारा अन्यमनस्क भाव से अल्पाधिक मात्रा में अध्ययन करने की प्रणाली है।

यद्यपि जैन कर्मसिद्धान्त के प्रति भले ही स्वयं जैनों का उक्त दृष्टिकोण रहे, तब भी निराश होने की बात नहीं है। क्योंकि वर्तमान में जिस प्रकार से साहित्यिक अनुशीलन, परिशीलन एवं तुलनात्मक अध्ययन की प्रणाली बढ़ रही और सैद्धान्तिक मान्यताओं को समझने की जिज्ञासा प्रवर्धमान है, उससे विश्वास होता है कि पाठकगण जैन कर्मसिद्धान्त की गहनता का सही मूल्यांकन करेंगे। कर्म विषयक धारणाओं की अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनों से मुक्त होंगे, कर्मवाद के आध्यात्मिक रहस्य को हृदयगम करेंगे।

विषयपरिचय

सामान्य से तो अधिकार में नामानुसार कर्म के बंधक संसारी जीवों की

विविध दृष्टिकोणों से प्ररूपणा की है कि वे गति, जाति आदि किन-किन रूपों में संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, उनकी कितनी-कितनी स्थिति है, कितने समय तक एक भव में रहकर भवान्तर को प्राप्त करते हैं, उनकी भावात्मक स्थिति कैसी होती है आदि। लेकिन विस्तार से इस प्ररूपणा के दो प्रकार हैं।

प्रथम प्रकार प्रश्नोत्तर रूप है। वे प्रश्न हैं कि जीव क्या है ? जीव किसका स्वामी है ? जीव को किसने बनाया है ? जीव कहाँ रहता है ? जीव कितने काल तक रहने वाला है ? और जीव कितने और कौन-कौन से भावों से युक्त है ? इन छह प्रश्नों द्वारा जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व, अनादि-अनिधन मौलिक स्वरूप की व्याख्या की है। इस व्याख्या के द्वारा भूतचैतन्यवाद का निराकरण किया गया है। भूतचैतन्यवादी जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं पर पृथ्वी, जल आदि के संयोगसम्बन्ध से उत्पन्न और उनमें विकृति आने पर नाश होना मानते हैं आदि।

जब जीव का स्वतन्त्र, मौलिक और अनादि-अनिधन अस्तित्व सिद्ध हो गया तब सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व रूप प्ररूपणा के दूसरे प्रकार द्वारा बंधक जीवों का विस्तार से वर्णन किया है।

नरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति, पृथ्वी आदि काय, पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, बादर, संज्ञी-असंज्ञी आदि जीवों के रहने का विचार सत्पदप्ररूपणा में किया गया है।

जीव द्रव्य है अतएव जीवों की संख्या का प्रमाण द्रव्यप्रमाण द्वारा बतलाया है।

जीव कितने क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है, इसका वर्णन क्षेत्रद्वार में किया है।

जीवभेदों में से कौन कितने क्षेत्र का स्पर्श कर सकता है, अर्थात् उनके पहुँचने की क्षेत्रसीमा क्या है ? यह वर्णन स्पर्शनाद्वार में किया है।

कालद्वार के विवेचन के तीन रूप हैं—(१) एक भव की आयु रूप भव-स्थिति काल, (२) मरकर बारम्बार पृथ्वीकायादि विवक्षित उसी काय में पुनः-पुनः

उत्पन्न होने रूप कायस्थिति काल और (३) किसी भी विवक्षित गुणस्थान में एक जीव के रहने रूप गुणस्थानकाल । इन तीनों प्रकारों का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया गया है ।

अन्तरद्वार में विवक्षित भव की प्राप्ति के बाद पुनः उसी भव की जितने काल तक प्राप्ति न हो, उतने काल का वर्णन किया है । यह वर्णन एक और अनेक जीवों को आधार बना कर किया है ।

भागद्वार और अल्पबहुत्वद्वार का वर्णन परस्पर एक दूसरे से मिलता-जुलता होने से पृथक् से निर्देश न करके अल्पबहुत्वद्वार के साथ ही भागद्वार का निर्देश किया है । अल्पबहुत्वद्वार में किन जीवों से कौन जीव कितने अल्प है अथवा अधिक हैं, इसको स्पष्ट किया है ।

भावद्वार में औपशमिक आदि पांच भावों में से किन जीवों में कौन-कौन से भाव होते हैं, इसका कथन है ।

यह समस्त वर्णन चौदह जीवस्थानगत एक और अनेक जीवों और गुण-स्थानों को आधार बनाकर किया है । इस प्रसंग में यथास्थान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार पुद्गलपरावर्तनों और सात समुद्घातों का स्वरूप भी बतलाया है ।

अधिकार में कुल चौरासी गाथायें हैं और अन्तिम गाथा में विवेचन की पूर्णता का संकेत करते हुए आगे तीसरे अधिकार के वर्ण्यविषय का उल्लेख किया है ।

यह अधिकार का संक्षिप्त परिचय है ।

हज्जांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

—देवकुमार जैन
सम्पादक

बंधक-प्ररूपणा अधिकार विषयानुक्रमणिका

गाथा १	३-५
कर्मबन्धक जीवों के वर्णन की प्रतिज्ञा	३
'विवन्धगा' और 'हु' पद के विशेष अर्थ का स्पष्टीकरण	४
गाथा २, ३	५-२०
किम् आदि छह प्रश्नोत्तरों द्वारा जीव विषयक निरूपण	५
औपशमिक आदि भावों का स्वरूप और उनके द्विकादि भंग	११
भंगों के अधिकारी	१८
गाथा ४	२०-२२
संसारी जीवों में सम्भव शरीर	२१
गाथा ५	२२-२४
सत्पद-प्ररूपणा	२२
गाथा ६	२५-२६
गुणस्थानों की सत्पद-प्ररूपणा	२५
गाथा ७	२६-२६
अनियतकालभावी सासादन आदि आठ गुणस्थानों के संयोग से संभव भेदों का करणसूत्र	२६
गाथा ८	२६-३१
उक्त भेद-भंगों की गणना की दूसरी विधि	२६
गाथा ९	३१-३३
द्रव्यप्रमाण प्ररूपणा	३१
गाथा १०, ११, १२	३३-३६
एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का प्रमाण विवेचन	३३

गाथा १३	३६-४४
नारक जीवों का प्रमाण	४०
गाथा १४	४४-४५
व्यंतर देवों का प्रमाण	४४
गाथा १५	४५-४६
ज्योतिष्क देवों का प्रमाण	४६
गाथा १६	४७-४९
वैमानिक देवों का प्रमाण	४७
गाथा १७, १८	४९-५१
रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों, भवनपति और सौधर्म स्वर्ग के देवों की संख्या में प्रयुक्त असंख्यात का स्पष्टीकरण	५०
गाथा १९	५१-५२
प्रकारान्तर से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकादि की संख्या सम्बन्धी श्रेणी का प्रमाण	५१
गाथा २०	५३
उत्तर वैक्रियशरीरी पंचेन्द्रिय तिर्यचों का प्रमाण	५३
गाथा २१	५३-५६
मनुष्यों की संख्या का प्रमाण	५३
गाथा २२	५६-६०
आदि के सात गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण	५६
गाथा २३, २४	६०-६४
आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों का संख्याप्रमाण	६१
गाथा २५	६४-६६
जीवस्थानों की क्षेत्रप्ररूपणा	६५
गाथा २६	६७-६८
गुणस्थानापेक्षा क्षेत्रप्रमाण	६७
गाथा २७, २८	६८-७२
समुद्घात-विवेचन	६८

गाथा २६	७२-७५
जीवभेदापेक्षा स्पर्शना	७२
मिथ्यात्व व सयोगिकेवली गुणस्थान की स्पर्शना	७५
गाथा ३०	७५
मिश्र से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त गुणस्थानापेक्षा स्पर्शना-प्ररूपणा	७५
गाथा ३१, ३२, ३३	७६-८५
पूर्व गाथोक्त स्पर्शना का स्पष्टीकरण	७६
काल-प्ररूपणा की उत्थानिका	८५
गाथा ३४	८५-८६
सात अपर्याप्तक एवं सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य-उत्कृष्ट	८५
तथा बादर एकेन्द्रियादि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक पर्यन्त की	
जघन्य भवस्थिति	
गाथा ३५	८६-९२
बादर एकेन्द्रियदि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों पर्यन्त की उत्कृष्ट भव-	८६
स्थिति, संज्ञी जीवों की चतुर्गति भेदापेक्षा भवस्थिति	
गाथा ३६	९२-९४
एक जीव की अपेक्षा मिथ्यात्वगुणस्थान का काल	९३
गाथा ३७	९४
पुद्गलपरावर्तन के भेदों के नाम और प्रकार	९४
गाथा ३८	९५-९७
द्रव्य पुद्गलपरावर्तन की व्याख्या	९५
गाथा ३९	९८-९९
क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन की व्याख्या	९८
गाथा ४०	१००-१०१
काल पुद्गलपरावर्तन का लक्षण	१००
गाथा ४१	१०२-१०४
भाव पुद्गलपरावर्तन-निरूपण	१०२

गाथा ४२	१०४-१०६
सासादन, मिश्र गुणस्थान, सम्यक्त्वद्विक का काल	१०४
गाथा ४३	१०६-१०८
अविरत, देशविरत गुणस्थान का काल	१०६
गाथा ४४	१०८-११०
प्रमत्त, अप्रमत्त संयत गुणस्थान का काल	१०६
गाथा ४५	१११-११३
अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का काल	१११
गाथा ४६	११३-११५
एकेन्द्रियादि की कायस्थिति	११४
गाथा ४७	११५-११६
मनुष्य और तिर्यच की कायस्थिति का उत्कृष्ट प्रमाण	११६
गाथा ४८	११७-१२०
पुरुषवेद, संज्ञित्व की कायस्थिति	११७
स्त्रीवेद, नपुंसकवेद की कायस्थिति	११६
गाथा ४९	१२०-१२२
बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियों की कायस्थिति	१२०
अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण की कायस्थिति	१२१
गाथा ५०	१२२-१२४
बादर, बादर वनस्पतिकाय की कायस्थिति	१२२
गाथा ५१	१२४-१२६
बादर सूक्ष्म पृथ्वीकायादि की कायस्थिति	१२४
गाथा ५२, ५३	१२६-१२६
अनेक जीवापेक्षा गुणस्थानों का काल	१२७
गाथा ५४	१२६-१३१
अनेक जीवापेक्षा एकेन्द्रियादि में निरंतर उत्पत्तिकाल	१२६

गाथा ५५	१३१-१३२
उपशमश्रेणि, उपशांतमोहगुणस्थान, पंचेन्द्रिय गर्भज मनुष्यत्व, अनुत्तरदेवत्व, सातवीं पृथ्वी का नारकत्व और क्षपकश्रेणि की प्राप्ति का अनेक जीवापेक्षा जघन्य उत्कृष्ट काल	१३२
गाथा ५६	१३२-१३४
एक से आठ समय तक निरंतर मोक्ष में जाने वाले जीवों की संख्या	१३३
गाथा ५७	१३४-१३७
गर्भज तिर्यच, मनुष्य, देव, नारक, संमूर्च्छिम मनुष्य, विक- लेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्पत्ति की अपेक्षा विरहकाल	१३५
गाथा ५८	१३७-१४१
जीवस्थानों में एक जीवापेक्षा अन्तर	१३७
गाथा ५९	१४१-१४३
देवगति सम्बन्धी जघन्य अन्तरकाल	१४१
गाथा ६०	१४३-१४५
देवगति सम्बन्धी उत्कृष्ट अन्तरकाल	१४४
गाथा ६१	१४५-१५०
एक जीवापेक्षा गुणस्थानों का अन्तरकाल	१४६
गाथा ६२, ६३	१५१-१५३
अनेक जीवापेक्षा गुणस्थानों का अन्तरकाल	१५१
गाथा ६४	१५३-१५७
गुणस्थानों में भावप्ररूपणा	१५४
जीवस्थानों में भावप्ररूपणा	१५६
गाथा ६५	१५७-१५८
गर्भज मनुष्यों, मनुष्यनियों, तेजस्काय जीवों का अल्पबहुत्व	१५७
गाथा ६६, ६७, ६८, ६९	१५८-१६७
देव और नारकों, खेचर, जलचर, थलचर आदि का अल्प- बहुत्व	१५९

गाथा ७०	१६७-१६९
नपुंसक खेचर, थलचर, जलचर, चतुरिन्द्रिय, पर्याप्त पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवों का अल्पबहुत्व	१६८
गाथा ७१	१६९-१७०
अपर्याप्त पंचेन्द्रियादि का अल्पबहुत्व	१७०
गाथा ७२	१७०-१७२
पर्याप्त बादर वनस्पतिकायादि का अल्पबहुत्व	१७१
गाथा ७३	१७२-१७३
अपर्याप्त बादर वनस्पति आदि का अल्पबहुत्व	१७३
गाथा ७४, ७५	१७३-१७४
पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय आदि का अल्पबहुत्व	१७३
गाथा ७६, ७७	१७५-१७६
सामान्य पर्याप्त बादरादि, सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पति आदि का अल्पबहुत्व	१७५
गाथा ७८	१७६-१७८
पर्याप्तापर्याप्त सूक्ष्मादि का अल्पबहुत्व	१७७
गाथा ७९	१७८-१७९
सामान्य एकेन्द्रियादि का अल्पबहुत्व	१७८
गाथा ८०, ८१	१७९-१८३
गुणस्थानापेक्षा अल्पबहुत्व	१८०
गाथा ८२	१८३-१८४
जीवस्थानों के भेद और नाम	१८३
गाथा ८३	१८४-१८५
गुणस्थानों के नाम	१८४
गाथा ८४	१८५
बन्धक जीवों के गुणस्थान और अधिकार का उपसंहार	१८५
परिशिष्ट	१८६-२३२
बन्धक-प्ररूपणा अधिआर की मूलगाथायें	१८६

लोक की घनाकार समचतुरस्र-समीकरणविधि	१६३
दिगम्बरसाहित्य में निर्देशित स्थावर-त्रसजीवों की संख्या का प्रमाण	१६५
नारक एवं चतुर्विध देव संख्या निरूपक गोम्मटसार-जीवकांडगत पाठ	१६६
दिशापेक्षा नारकों का अल्पबहुत्व	२००
प्रज्ञापनासूत्रगत महादंडक का पाठ	२०२
उत्तरवैक्रिप्रशरीरी पंचेन्द्रिय तिर्यच संख्या परिमाण ज्ञापक प्रज्ञापना सूत्रगत पाठ	२०६
मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्याविषयक अनुयोग द्वारचूर्णिका का पाठ	२०६
दिगम्बरसाहित्यगत पुद्गलपरावर्तनों की व्याख्या	२०६
प्रज्ञापनासूत्रगत कायस्थिति संबन्धी पाठांश	२१४
अनेक जीवापेक्षा अन्तरकाल संबन्धी प्रज्ञापनासूत्र का आवश्यक पाठांश	२२५
क्षुल्लकभव का प्रमाण	२२६
गाथा-अकाराद्यनुक्रमणिका	२३१

श्रीमदाचार्य चन्द्रषिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

[मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त]

बंधक—प्ररूपणा अधिकार

२

२ : बन्धक-प्ररूपणा अधिकार

प्रथम अधिकार—योगोपयोगमार्गणा अधिकार में जीवों का योग, उपयोग आदि की अपेक्षा विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ जिन जीवों का वर्णन किया गया है, वे ही कर्म के बन्धक—बंध करने वाले हैं। अतः अब उन्हीं जीवों का सविस्तार विशेष वर्णन करते हैं—

चउदसविहा वि जीवा विबंधगा तेसिमंतिमो भेओ ।

चोद्दसहा सव्वे वि हु किमाइसंताइपयनेया ॥१॥

शब्दार्थ—चउदसविहा—चौदह प्रकार के, वि—ही, जीवा—जीव, विबन्धगा—बंधक, तेसि—उनमें, अंतिमो—अंतिम, भेओ—भेद, चोद्दसहा—चौदह प्रकार का, सव्वे—सब, वि—भी, हु—निश्चय से, किमाइ—किम्, क्या आदि, संताइ—सत् आदि, पय—पद, नेया—जानने योग्य हैं।

गाथार्थ—चौदह प्रकार के जीव कर्म के बन्धक हैं, उनमें से अंतिम भेद चौदह प्रकार का है। ये सभी जीवभेद किम् आदि, सत् आदि पदों द्वारा जानने योग्य हैं।

विशेषार्थ—गाथा में जो जीव कर्म के बन्धक हैं, उनके वर्णन की प्रतिज्ञा की है।

जिनके स्वरूप और भेद पहले बताये जा चुके हैं ऐसे अपर्याप्त, पर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय आदि चौदह प्रकार के जीव कर्मों—ज्ञानावरण आदि आठों प्रकार के कर्मों के बन्धक हैं—‘चउदसविहा वि जीवा विबन्धगा’। उन चौदह प्रकार के जीवों में से भी अन्तिम भेद—संज्ञा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक भेद—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों के भेद से चौदह प्रकार का है (तेसिमंतिमो भेओ चोद्दसहा) तथा ये पूर्वोक्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि चौदह प्रकार के जीव एव गुणस्थानों के भेद से वर्गीकृत मिथ्यादृष्टि आदि जीव किम् आदि तथा सत्पद-

प्ररूपणा आदि द्वारों^१ के द्वारा यथावत् रूप से समझने योग्य हैं—
(किमाइ संताइ पयनेया) ।

गाथागत 'विवन्धगा' और 'हु' यह दो पद विशेष अर्थ के द्योतक हैं । जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

विवन्धगा—अर्थात् चौदह प्रकार के जीवभेदों में से भी जो अंतिम भेद है—'तेसिमंतिमो भेओ'—वह पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय भेद विशेष रूप से कर्म-बन्धक है ।

यद्यपि जब तक जीव संसार में है, तब तक कर्मबन्ध होगा, लेकिन योग और कषायों की सामर्थ्य के अनुसार ही संसारी जीव बन्ध करते हैं । संसारी जीवों में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों में ही उत्कृष्ट योग और कषाय-सामर्थ्य पाई जा सकती है, अन्य जीवों में उतनी नहीं; इसी बात का संकेत करने के लिये ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में 'विवन्धगा' पद दिया है तथा बहुवचन प्रयोग करने का कारण यह है कि जीव अनेक हैं और उन अनेकों में जैसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जीव अनेक हैं, उसी प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी अनेक हैं । जो अपनी योग्यता—सामर्थ्य की विशेषता के कारण ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का विशेष बन्ध करते हैं ।

हु—यह अवधारणात्मक पद है । जिसका आशय यह है कि अंतिम जीवभेद—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवभेद में ही चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त शेष जीवभेदों में एक, दो, तीन गुणस्थान संभव हैं ।^२ जैसे कि अनादिकाल से सभी संसारी जीवों के मिथ्यादृष्टि होने से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है । उनमें से कोई करण-अपर्याप्तक दो गुणस्थान वाले होते हैं । क्योंकि सूक्ष्म एकेन्द्रिय के

१ किसी भी वस्तु को समझने के प्रकार को द्वार कहते हैं । प्राचीन आचार्यों ने इन प्रकारों के लिये द्वार शब्द का प्रयोग किया है ।

२ हरवधारणे, किमवधारयति ? अंतिम एवं चतुर्दशधा भवन्ति, अन्ये त्दकद्वित्रिगुणा एव ।
—पंचसंग्रह, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ४२

सिवाय शेष करण-अपर्याप्तकों में सास्वादन गुणस्थान भी पाया जाता है। संज्ञी करण-अपर्याप्तकों में तीन गुणस्थान पाये जा सकते हैं। क्योंकि करण-अपर्याप्त दशा में उनको अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी सम्भव है।

इस प्रकार सामान्य से जीवों के कर्मबन्धत्व का विचार करने के बाद अब वर्णन करने की प्रतिज्ञा के अनुसार किम् आदि एवं सत् आदि पदों द्वारा जीव की प्ररूपणा करते हैं। इनमें से अल्पवक्तव्यता पहले के कारण किमादि पदों द्वारा जीव का विचार करते हैं।

किमादि पदों द्वारा निरूपण

कि जीवा ? उवसमाइएहि भावेहि संजुयं दव्वं ।

कस्स सरूवस्स पहू केणति ? न केणइ कया उ ॥२॥

कत्थ ? सरीरे लोए व हुंति केवचिर ? सव्वकालं तु ।

कइ भावजुया जीवा ? दुगतिगचउपंचमीसेहि ॥३॥

शब्दार्थ—कि—क्या, जीवा—जीव, उवसमाइएहि—औपशमिकादि, भावेहि—भावों से, संजुयं—संयुक्त, दव्वं—द्रव्य, कस्स—किसका, सरूवस्स—स्वरूप का, पहू—प्रभु-स्वामी, केणति—किसने, न—नहीं, केणइ—किसी के द्वारा भी, कया—कृत-बनाया, उ—निश्चय ही।

कत्थ—कहाँ, सरीरे—शरीर में, लोए—लोक में, व—अथवा, हुंति—होते हैं, केवचिर—कितने काल तक, सव्वकालं—सर्वकाल, तु—ही, कइ—कितने, भावजुया—भावयुक्त, जीवा—जीव, दुगतिगचउपंचमीसेहि—दो, तीन, चार, पांच से युक्त।

गाथार्थ—जीव क्या है ? औपशमिकादि भावों से संयुक्त द्रव्य है। किसका प्रभु—स्वामी है ? अपने स्वरूप का स्वामी है। किसने बनाया है ? किसी ने नहीं बनाया है।

जीव कहाँ रहता है ? शरीर अथवा लोक में रहता है ? कितने काल तक रहने वाला है ? सर्वकाल—सदैव रहने वाला है। कितने भावों से युक्त जीव होते हैं ? दो, तीन, चार और पांच भावों से युक्त जीव होते हैं।

विशेषार्थ—ग्रंथकार आचार्य ने इन दो गाथाओं में जीव के स्वरूप को समझाया है और सरलता से समझाने के लिये प्रश्नोत्तर शैली का अनुसरण किया है। समग्र रूप से जीव का स्वरूप समझने के प्रसंग में जो प्रश्न हो सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. जीव क्या है अर्थात् जीव का स्वरूप क्या है ? २. जीव किसका प्रभु-स्वामी है ? ३. जीव को किसने बनाया है ? ४. जीव कहाँ रहते हैं ? ५. जीव कितने काल तक जीव के रूप में रहेंगे ? ६. जीव उपशमादि कितने भावों से युक्त होते हैं ?

उक्त छह प्रश्नों का त्रिवेचन इस प्रकार है—

१. जीव क्या है ?—स्वरूप-बोध के अनन्तर ही वस्तु का विशेष विचार किया जाना शक्य होने से जीव का स्वरूप समझने के लिये जिज्ञासु ने पहला प्रश्न पूछा है 'किं जीवा ?' जीव क्या है—जीव का स्वरूप क्या है ? प्रत्युत्तर में आचार्य बतलाते हैं—

‘उवसमाइर्हि भावेर्हि संजुयं दव्वं’—अर्थात् औपशमिक, औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों से युक्त जो द्रव्य है, वह जीव है। इसका आशय यह है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप द्रव्य का लक्षण पाये जाने से जीव द्रव्य तो है ही क्योंकि प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, यही द्रव्य का लक्षण है।^१ लेकिन साथ ही जीव की यह विशेषता है कि वह औपशमिक, औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों से युक्त द्रव्य है।^२

१ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं वस्तु । —विशेषावश्यक भाष्य, पृ. ८१२

२ जीव का स्वरूप उपयोगात्मक है। लेकिन यहाँ कर्मजन्य अवस्थाओं और मूलस्वभाव को बतलाने की मुख्यता से औपशमिक आदि पांच भावों को जीव का स्वरूप बतलाया है—

‘औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यायादेशात् । पारिणामिकभावसाधनो निश्चयतः ।’

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/७/३, ८

अन्वसाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः ।

स्वतत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते ॥

—तत्त्वार्थसार २/२

जीव की स्वरूप-व्याख्या में भावों के क्रमविन्यास पर शंकाकार की शंका है कि—

शंका—आपका यह क्रमविन्यास अयुक्त है। क्योंकि औदयिक भाव निगोद से लेकर सभी संसारी जीवों के होता है और औपशमिक तो कितनों को ही होता है। अतः औदयिक भाव को छोड़कर प्रथम औपशमिक भाव को ग्रहण करने का क्या कारण है ?

उत्तर—वस्तु का ऐसा स्वरूप बतलाना चाहिए जो असाधारण हो, जिससे उसकी अन्य से व्यावृत्ति की जा सके, उसकी पृथक्ता समझी जा सके। इसी हेतु से जीव का स्वरूप बतलाने के आरम्भ में औदयिक को ग्रहण न करके औपशमिक भाव का विन्यास किया है। जिसका आशय यह है कि औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव तो अजीव द्रव्य में भी पाये जाते हैं, इसीलिये उन भावों को प्रारम्भ में ग्रहण नहीं किया है। क्षायिक भाव औपशमिक भावपूर्वक ही होता है, क्योंकि कोई भी जीव उपशम भाव को प्राप्त किये बिना क्षायिक भाव को प्राप्त करता ही नहीं है। इसका कारण यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जब भी सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है तो उपशम सम्यक्त्व को ही प्राप्त करता है, इसीलिये उसे (क्षायिक को) भी प्रारम्भ में नहीं रखा है। क्षायोपशमिक भाव औपशमिक भाव से अत्यन्त भिन्न नहीं है, इस कारण प्रारम्भ में औपशमिक भाव ग्रहण किया है।

इस प्रकार से जीव का स्वरूप बतलाने के पश्चात् अब दूसरे प्रश्न पर विचार करते हैं—

२. जीव किसका प्रभु—स्वामी है ? तो इसका उत्तर यह है कि 'सरूवस्स पहू'—जीव अपने स्वरूप का ही स्वामी है। यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि संसार में जो स्वामी-सेवकभाव दिखता है, वह कर्मरूप उपाधिजन्य होने के कारण औपाधिक है, वास्तविक नहीं। किन्तु कर्मों से मुक्त हुए जीवों—आत्माओं में स्वामी-सेवकभाव नहीं है। कोई किसी का स्वामी नहीं और न कोई किसी का सेवक है। सभी मुक्त जीव अपने स्वरूप के

स्वामी हैं, सभी के गुण समान हैं। उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। इसीलिये तथास्वभाव से अपने स्वरूप के ही स्वयं स्वामी हैं।

३. जीव को किसने बनाया है ?—यह तीसरा प्रश्न है। जिसका उत्तर है—‘न केणइ कया’—जीव को किसी ने नहीं बनाया है, किन्तु आकाश की तरह अकृत्रिम है और अपने स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित है।

यह नियम है कि उत्पन्न हुई वस्तु का अवश्य नाश होता है। इसलिये यदि जीव को उत्पन्न हुआ माना जाये तो उसका भी नाश होना चाहिये। परन्तु उसका किसी भी समय नाश नहीं होने से वह अकृत्रिम है।^१

४. जीव कहाँ रहते हैं ?—इस चौथे प्रश्न का उत्तर यह है कि ‘सरीरे लोएव हुंति’—जीव अपने-अपने शरीर में अथवा लोक में रहते हैं। इस उत्तर में सामान्य और विशेषापेक्षा जीव के अवस्थान का विचार किया गया है। उनमें से सामान्य की अपेक्षा विचार करते हुए बताया कि जीव लोक में रहते हैं, अलोक में नहीं; चाहे वे बन्धक हों या अबन्धक हों। इसका कारण यह है कि तथास्वभाव से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गलों का अलोक में अभाव है। लेकिन विशेषापेक्षा विचार करने पर प्रत्येक जीव यथायोग्य प्राप्त अपने-अपने औदारिक आदि शरीर में रहता है, अपने शरीर से बाहर नहीं रहता है। क्योंकि शरीर के परमाणुओं के साथ आत्मप्रदेशों का नीरक्षीरवत् अन्योन्यागमरूप परस्पर एकाकार सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि जीव और पुद्गल अन्योन्यागम के कारण परस्पर ऐसे एकाकार रूप से रहे हुए हैं कि उनमें यह जीव है और यह शरीर-पुद्गल है, ऐसा विभाग नहीं हो सकता है। जैसे कि पानी और दूध

१ एतद्विषयक सविस्तृत विचार धर्मसंग्रहणी की टीका में किया गया है। विस्तारभय से यहाँ संक्षेप में संकेतमात्र किया है।

ऐसे एकाकार रूप में रहे हुए हैं कि उनमें यह पानी है और यह दूध है, इस प्रकार का विभाग नहीं हो पाता है।^१

५. जीव कितने कालपर्यन्त जीवरूप में रहेगा, उसका नाश कब होगा ?—यह पांचवाँ प्रश्न है। इसका उत्तर है 'सर्वकालंतु'। अर्थात् जीव सर्वदा जीव रूप में रहेगा, किसी भी समय उसका नाश नहीं होता।

शंका—तीसरे प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जीव को किसी ने नहीं बनाया है, किन्तु आकाश की तरह अकृत्रिम है और अकृत्रिम वस्तु का कभी भी नाश नहीं होता है। जब इतनी स्पष्ट बात है तो पुनः यहाँ 'उसका नाश नहीं होता है'—कहकर तीसरे प्रश्न के उत्तर की पुनरावृत्ति करने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश विशेष उद्देश्य को लेकर किया गया है। तीसरे प्रश्न के उत्तर द्वारा जीव अनादिकाल से है, यह बतलाया है; जबकि यहाँ यह स्पष्ट किया है कि अनन्तकाल-पर्यन्त भी जीव जीवरूप में रहने वाला है। तात्पर्य यह है कि जीव को किसी ने बनाया नहीं है, इसलिये वह अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक जीवरूप में ही रहने वाला है। यानी जीव अनादि-अनन्त है।

अब कदाचित् यह कहो कि मुक्त जीव अनन्तकाल तक जीवरूप यानी स्वरूप में कैसे रहते हैं ? तो इसके लिये समझना चाहिये कि मुक्त अवस्था को प्राप्त जीव सदैव के लिये ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त आत्म-गुणात्मक अपने स्वरूप में ही रहेंगे। क्योंकि ज्ञान-दर्शन आदि गुण जीव के स्वरूप हैं। वे गुण कभी भी उसके सिवाय अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहते हैं और न पाये जा सकते हैं।

१ अन्नोन्नमणुगयाइं इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं । जह खीरपाणीयाइं ति ।

—पंचसंग्रह—मलयगिरि टीका, पृ. ४४

मुक्त जीव के ज्ञान-दर्शनादि रूप अपने स्वरूप में अनन्तकाल तक रहने के सिद्धान्त द्वारा उन दार्शनिकों का निरास हो जाता है, जिनके मत से आत्मा का मोक्ष हो जाने के बाद आत्मा जैसी वस्तु रहती नहीं है और जिनकी मोक्षविषयक मान्यता यह है कि—

‘जैसे बुझने पर दीपक, पृथ्वी में नीचे नहीं जाता, आकाश में ऊँचा नहीं जाता और किसी दिशा या विदिशा में भी नहीं जाता है, परन्तु वहीं रहते हुए स्नेह—तेल क्षय होने से बुझ जाता है। उसी प्रकार स्नेह—रागद्वेष का क्षय होने से निवृत्ति—मोक्ष को प्राप्त आत्मा भी पृथ्वी में नीचे नहीं जाती, आकाश में ऊपर नहीं जाती और न किसी दिशा या विदिशा में ही जाती है, किन्तु वहीं रहते हुए दीपक की तरह बुझ जाती है अर्थात् उसका नाश हो जाता है।’^१

तथा—

‘अरिहंत के मरणोन्मुख चित्त की प्रतिसंधि—अनुसंधान नहीं होता है, किन्तु दीपक की तरह निर्वाण—नाश होता है, उसी प्रकार चित्त—आत्मा का मोक्ष होता है।’^२

क्योंकि जो वस्तु सत् है, उसका कभी नाश नहीं होता है। पर्याय—अवस्था बदलती है, परन्तु द्रव्य तो सदैव विद्यमान रहती है।

६. उपशमादि कितने भावों से युक्त जीव होते हैं?—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कितने ही जीव दो भाव, कितने ही तीन भाव, कितने ही चार भाव और कितने ही पाच भाव युक्त होते हैं—‘दुगतिग-चउपंचमीसेहि’। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

- १ दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
जीवस्तथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

—सौदरानन्द १६/२८, २९

२ यह बौद्धदर्शन की मान्यता है।

औपशमिक आदि भावों का स्वरूप और उनके द्विकादि भंग

प्रश्न—औपशमिक आदि कितने भाव हैं ? उनका क्या स्वरूप है और द्विक, त्रिकादि योग करने की रीति क्या है ?

उत्तर—औपशमिकादि छह भाव हैं—(१) औदयिक, (२) औपशमिक, (३) क्षायिक, (४) क्षायोपशमिक, (५) पारिणामिक और (६) सान्निपातिक ।^१ जिनके लक्षण और भेद क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) औदयिक^२ भाव के दो भेद हैं—१. उदय और २. उदय-निष्पन्न ।^३ अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार फल देने के सम्मुख हुए ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का अपने-अपने स्वरूप के अनुसार फलानुभव उदय है^४ और उदय है कारण जिसका उसे औदयिक कहते हैं ।

१ (क) शुद्ध भाव औपशमिकादि पाच ही होते हैं ।

शुद्धभावाः पञ्चैवैते, तेषामेवसन्निपातान्मिश्रः षष्ठो भेदो भवति ।

—पंचसंग्रह—स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ४३

(ख) औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ।

—तत्त्वार्थसूत्र २/१

(ग) सान्निपातिक नाम का स्वतन्त्र भाव नहीं है । किन्तु संयोग भंग की अपेक्षा उसका ग्रहण किया जाता है ।

—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, ४/३१३

२ उदय शब्द से 'इक' प्रत्यय लगाने से औदयिक शब्द बनता है ।

३ उदइए दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—उदइए उदयनिष्फन्ने य ।

—अनुयोगद्वारसूत्र

४ (क) तत्रोदयोऽष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयः शान्तावस्था परित्यागेनोदीरणावलिकामतिक्रम्य उदयावलिकायामात्मीयरूपेण विपाक इत्यर्थः ।

—स्थानांगवृत्ति, स्था. ६

(ख) उदइए अट्टण्हं कम्मपगडीणमुदए से तं उदइए ।

—अनुयोगद्वारसूत्र

कर्मों के उदय द्वारा उत्पन्न हुआ जीव का स्वभाव उदयनिष्पन्न कहलाता है ।

उदयनिष्पन्न के दो भेद हैं—(१) जीवविषयक (२) अजीव-विषयक ।^१ उनमें से नरकगति आदि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए नारक-त्वादि पर्याय के परिणाम को जीवविषयक औदयिक भाव कहते हैं । क्योंकि नारकत्वादि जीव के भावों—पर्यायों ने नरकगति आदि कर्मों के उदय से सत्ता प्राप्त की है, किन्तु वे स्वाभाविक नहीं हैं ।

जीवोदयनिष्पन्न औदयिक भाव के अनेक भेद हैं, यथा—नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व, पृथ्वीकायत्व, अप्कायत्व, तैजस्कायत्व, वायुकायत्व, वनस्पतिकायत्व, त्रसकायत्व, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी, कृष्ण-लेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, मिथ्यादृष्टित्व, अविरतित्व, अज्ञानित्व, आहारकत्व, छद्मस्थभाव, सयोगित्व और संसारावस्था आदि । ये सभी भाव जीव के कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण जीवोदयनिष्पन्न कहलाते हैं ।

अजीवोदयनिष्पन्न यानि जीव द्वारा ग्रहण किये गये औदारिक आदि शरीर में कर्म के उदय से उत्पन्न हुए वर्णादि परिणाम अजीवो-दयनिष्पन्न औदयिक भाव हैं । जिसका स्पष्ट आशय यह है कि औदारिक आदि शरीरयोग्य पुद्गलों का उस-उस शरीररूप में परिणाम तथा शरीर में वर्ण, गंध, रस और स्पर्शरूप परिणाम, यह सब कर्म के उदय बिना नहीं होता है, जिससे ये अजीवोदयनिष्पन्न औदयिक भाव कहलाते हैं ।

(२) औपशमिक भाव—औपशमिक भाव के दो भेद हैं—१. उपशम

१ से किं तं उदयनिष्पन्ने ?

तं दुबिहे पन्नत्ते तं जहा—जीवोदयनिष्पन्ने अजीवोदयनिष्पन्ने य ।

—अनुयोगद्वारसूत्र

और २. उपशमनिष्पन्न । उनमें से राख से आच्छादित अग्नि की तरह कर्म की सर्वथा अनुदयावस्था, अर्थात् प्रदेश से भी जिसके उदय का अभाव हो, उसे उपशम कहते हैं । कर्म को ऐसी स्थिति में स्थापित कर देना कि वह रस से अथवा प्रदेश से भी अपना विपाक वेदन न करा सके, वह उपशम है । इस प्रकार के उपशम को सर्वोपशम कहते हैं । जो मोहनीयकर्म का ही होता है,^१ किन्तु दूसरे किसी कर्म का नहीं होता है ।

कर्म के सर्वथा उपशम द्वारा उत्पन्न जीवस्वभाव को उपशमनिष्पन्न कहते हैं । जो क्रोधादि कषायों के उदय का सर्वथा अभाव होने से उसके फलरूप में उत्पन्न हुआ परम शांत अवस्था रूप जीव का परिणाम-विशेष है ।

यह औपशमिक भाव अनेक प्रकार का है, यथा—उपशांत वेद, उपशांत क्रोध, उपशांत मान, उपशांत माया, उपशांत लोभ, उपशांत दर्शनमोहनीय, उपशांत चारित्रमोहनीय आदि ।

(३) क्षायिक भाव—इसके दो भेद हैं—क्षय और क्षयनिष्पन्न । कर्म के सर्वथा अभाव को क्षय कहते हैं और यही क्षय क्षायिक है । कर्मों के सर्वथा अभाव होने के फलरूप में उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम-विशेष क्षयनिष्पन्न कहलाता है, यथा—केवलज्ञानित्व, केवलदर्शनित्व, क्षीणमतिज्ञानावरणत्व, क्षीणश्रुतज्ञानावरणत्व, क्षीणअवधिज्ञानावरणत्व, क्षीणमनःपर्ययज्ञानावरणत्व यावत् क्षीणवीर्यान्तरायत्व और मुक्तत्व । ये सभी भाव कर्मावरण का सर्वथा नाश होने के फलरूप में उत्पन्न हुए हैं, जिससे ये क्षयनिष्पन्न कहलाते हैं ।

(४) क्षायोपशमिक भाव—यह दो प्रकार का है—क्षयोपशम और क्षयोपशमनिष्पन्न । उदयप्राप्त कर्मांश के क्षय और अनुदयप्राप्त

१ सव्वुवसमणा मोहस्सेव ।

—कम्मपयडी, उपशमना प्रकरण

कर्मांश के विपाकाश्रयी उपशम को क्षयोपशम^१ कहते हैं। यह क्षयोपशम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाति कर्मों का ही होता है, अघाति कर्मों का नहीं होता है।^२ क्षयोपशम ही क्षायोपशमिक कहलाता है।

घाति कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ मतिज्ञानादि लब्धिरूप

१ उदयप्राप्त कर्मों के क्षय और उदय में नहीं आये हुआ के उपशम को क्षयोपशम कहते हैं। यहाँ उपशम शब्द के दो अर्थ करना चाहिये—

१ उपशम यानी उदयप्राप्त कर्म का क्षय और सत्तागत कर्म को परिणामानुसार हीन शक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में स्थित करना कि स्वरूप से फल न दे। यह अर्थ मोहनीय कर्म में घटित होता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधि आदि बारह कषायों का क्षयोपशम होता है, तब उनके उदयप्राप्त अंशों का क्षय करता है और सत्तागत अंश को परिणामानुसार हीन शक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में रखता है कि स्वरूपतः फल न दे। तभी सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति चारित्ररूप गुण उत्पन्न होते हैं।

उपशम का दूसरा अर्थ—उदयप्राप्त अंश का क्षय और उदय-अप्राप्त अंश को परिणामानुसार हीनशक्ति वाला करना। यह अर्थ शेष तीन घाति कर्मों में घटित होता है। उनके उदयप्राप्त अंश का क्षय और उदय-अप्राप्त अंश को परिणामानुसार हीनशक्ति वाला करता है। स्वरूपतः फल न दे सकें ऐसी स्थिति में स्थित नहीं किये होने से उनका रसोदय भी होता है। किन्तु शक्तिहीन किये गये होने से गुण के विघातक नहीं होते हैं। जितने प्रमाण में उनकी शक्ति कम हो गई है, तदनु रूप मतिज्ञान आदि गुण प्रगट होते हैं। इसीलिये इन तीन कर्मों का उदयानुविद्ध क्षयोपशम कहा जाता है।

२ अघाति कर्म किसी गुण को आच्छादित नहीं करते, जिससे उनका क्षयोपशम नहीं होता। वे तो अधिक रस और अधिक स्थितिवाले हों तभी अपना कार्य कर सकते हैं। इसीलिये अघाती कर्मों का क्षयोपशम नहीं हो सकता है।

आत्मा का जो परिणामविशेष उसे क्षयोपशमनिष्पन्न कहते हैं। यह क्षयोपशमनिष्पन्न अनेक प्रकार का है, यथा—क्षायोपशमिक आभिनिबोधिविज्ञानलब्धि, श्रुतज्ञानलब्धि, अवधिविज्ञानलब्धि, मनपर्यायज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिक मतिअज्ञानलब्धि, श्रुतअज्ञानलब्धि, विभंगज्ञानलब्धि, सम्यग्दर्शनलब्धि, क्षायोपशमिक सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि^१, क्षायोपशमिक सामायिकलब्धि, क्षायोपशमिक छेदोपस्थापनीयलब्धि, क्षायोपशमिक परिहारविशुद्धिलब्धि, क्षायोपशमिक सूक्ष्मसंपरायलब्धि, क्षायोपशमिक देशविरतिलब्धि, क्षायोपशमिक दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, पंडितवीर्यलब्धि, बालवीर्यलब्धि, बालपंडितवीर्यलब्धि^२, श्रोत्रेन्द्रियलब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रियलब्धि, रसनेन्द्रियलब्धि, स्पर्शनेन्द्रियलब्धि^३ इत्यादि। ये सभी भाव घाति कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न होने के कारण क्षयोपशमनिष्पन्न कहलाते हैं।

(५) पारिणामिक^४ भाव—परिणमित होना—अवस्थित वस्तु का पूर्व अवस्था के त्याग करने के द्वारा उत्तर अवस्था को कथंचित् प्राप्त होना अर्थात् अपने मूल स्वभाव को छोड़े बिना पूर्व अवस्था के त्याग-

- १ मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से यहाँ सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि को गिना है।
- २ मिथ्यात्वी जीव के वीर्यव्यापार को बालवीर्य, सम्यक्त्वी और देशविरति के वीर्यव्यापार को बालपंडितवीर्य और सर्वविरति के वीर्यव्यापार को पंडितवीर्य-लब्धि कहा जाता है। इन सभी लब्धियों का सामान्य से वीर्यलब्धि में समावेश हो जाता है, किन्तु स्पष्टता के लिये अलग-अलग उल्लेख किया है।
- ३ इन श्रोत्रेन्द्रियलब्धि आदि पांच इन्द्रियलब्धियों का मतिज्ञानलब्धि में समावेश हो जाता है। किन्तु स्पष्टता के लिये यहाँ पृथक्-पृथक् उल्लेख है।
- ४ पारिणामिक भाव का कारण द्रव्य का स्वरूपलाभ मात्र है। इसमें कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं होती है।

पूर्वक उत्तर अवस्था को प्राप्त करना परिणाम कहलाता है और परिणाम को ही पारिणामिक भाव कहते हैं ।

पारिणामिक भाव के दो भेद हैं—सादि और अनादि । घी, गुड़, चावल, आसव और घटादि पदार्थों की नई-पुरानी आदि अवस्थायें तथा वर्षाधरपर्वत, भवन, विमान, कूट और रत्नप्रभा आदि पृथिवियों की पुद्गलों के मिलने-बिखरने के द्वारा होने वाली अवस्थायें तथा गंधर्वनगर, उल्कापात, धूमस, दिग्दाह, विद्युत, चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, चन्द्र-सूर्यग्रहण, इन्द्रधनुष इत्यादि अनेक अवस्थायें सादि पारिणामिक भाव हैं । क्योंकि उस-उस प्रकार के परिणाम अमुक-अमुक समय होते हैं और उनका नाश होता है । अथवा उनमें पुद्गलों के मिलने-बिखरने से हीनाधिक्य—फेरफार हुआ करते हैं ।

लोकस्थिति, अलोकस्थिति, भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व, धर्मास्तिकायत्व इत्यादि रूप जो भाव हैं, वे अनादि पारिणामिक भाव हैं । क्योंकि उनके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है । सदैव अपने-अपने स्वरूप में ही रहते हैं ।

ये औपशमिक आदि पूर्वोक्त पांच मूल भाव हैं । इनके संयोग से बनने वाले छठे भाव का नाम सान्निपातिक है ।^१ यह स्वतन्त्र भाव नहीं है, किन्तु संयोग भंग की अपेक्षा इसका ग्रहण किया जाता है ।

सान्निपातिक भाव—अनेक भावों के मिलने से निष्पन्न भाव को सान्निपातिक भाव कहते हैं । तात्पर्य यह है कि औदयिक आदि भावों

१ यह विचार अनुयोगद्वारसूत्र में, तत्त्वार्थसूत्र अ. २ के १ से ७ तक के सूत्र में, सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा १०७ तथा उसकी टीका में भी किया गया है तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इस विषय का 'भावचूलिका' नामक एक स्वतन्त्र प्रकरण है । भावों के भेद-प्रभेद के लिये ८१२ से ८१६ तक की गाथायें द्रष्टव्य हैं और आगे की गाथाओं में कई तरह के भंग जाल बतलाये हैं । इन सबके लिये भावचूलिका प्रकरण गाथा ८१२ से ८७५ तक देखना चाहिये ।

के दो आदि के संयोग से उत्पन्न हुई अवस्थाविशेष को सान्निपातिक कहते हैं ।^१

पांच भावों के २६ भंग—किसी भी जीव में एक भाव नहीं होता है, किन्तु दो, तीन, चार या पांच भाव होते हैं । इन पांचों भावों के सामान्य से द्विकादि के संयोग में छब्बीस भंग होते हैं । जो इस प्रकार जानना चाहिये कि दो के संयोग के दस, तीन के संयोग के दस, चार के संयोग के पांच और पांच के संयोग का एक ।^२

दो आदि के संयोग से निष्पन्न भंग इस प्रकार हैं—

दो के संयोग से निष्पन्न दस भंग—१. औदयिक-औपशमिक, २. औदयिक-क्षायिक, ३. औदयिक-क्षायोपशमिक, ४. औदयिक-पारिणामिक, ५. औपशमिक-क्षायिक, ६. औपशमिक-क्षायोपशमिक, ७. औपशमिक-पारिणामिक, ८. क्षायिक-क्षायोपशमिक, ९. क्षायिक-पारिणामिक, १०. क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

तीन के संयोग से बनने वाले दस भंग—१. औदयिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक, २. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक, ३. औदयिक-

१ जब विवक्षित पदार्थ के अनेक भेद होते हैं और उन भेदों में कभी किसी एक का, कभी दो का यावत् कभी प्रत्येक भेद का विचार करना हो तब उस पदार्थ के एक-एक भेद, दो-दो भेद, तीन-तीन भेद की अपेक्षा, इस प्रकार उस पदार्थ के जितने भेद होते हैं, वहाँ तक उनके जो भंग बनाये जाते हैं वे भंग अनुक्रम से एकसंयोगी, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि नाम से जाने जाते हैं ।

२ दिगम्बर साहित्य में भी इसी प्रकार से सान्निपातिक भाव द्विसंयोगी, तीन, चार तथा पांच संयोगी क्रम से दस, दस, पाँच तथा एक, इस प्रकार छब्बीस बतलाये हैं । लेकिन विस्तार से इकतालीस भंगों का भी निर्देश किया है । इन इकतालीस भंगों में द्विकसंयोगी भंग दस की बजाय पच्चीस बतलाये हैं । शेष भंगों की संख्या में अन्तर नहीं है ।

—देखिये, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश ४/३१३ ।

औपशमिक-पारिणामिक, ४. औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, ५. औदयिक-क्षायिक-पारिणामिक, ६. औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, ७. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, ८. औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक, ९. औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, १०. क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

चार के संयोग से निष्पन्न पांच भंग—१. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, २. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक, ३. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, ४. औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, ५. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

पांचों भावों के संयोग से निष्पन्न एक भंग—औपशमिक-औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

इस प्रकार औदयिक आदि पांच भावों के छब्बीस भंग होते हैं । इन भंगों में से द्विकसंयोगी एक, त्रिकसंयोगी दो, चतुःसंयोगी दो और पंचसंयोगी एक, इस तरह छह भंग ही घटित होते हैं, शेष भंग घटित नहीं होते हैं । किन्तु भंगरचना की अपेक्षा से शेष भंग बतलाये हैं और वे भी इसलिये बताये हैं कि घटित होने वाले भंगों के ज्ञान के लिये यह रचना उपयोगी है ।

अब उक्त भंगों में से कौन-सा भंग किसके घटित होता है, यह बतलाते हैं ।

घटित भंगों के अधिकारी

द्विकसंयोगी भंगों में से क्षायिक-पारिणामिक यह नौवां भंग सिद्धों में घटित होता है । क्योंकि सिद्धों में केवलज्ञान, दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, दानादि लब्धियां क्षायिक भाव से हैं और जीवत्व पारिणामिक भाव से है ।

त्रिकसंयोगी भंगों में से औदयिक-क्षायिक-पारिणामिक रूप पांचवां तथा औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक रूप छठा—यह दो भंग संभव हैं । उनमें से पांचवां भंग केवली की अपेक्षा से जानना

चाहिये । क्योंकि उनके मनुष्यगति आदि औदयिक भाव से, ज्ञान-दर्शन आदि क्षायिक भाव से और जीवत्व, भव्यत्व पारिणामिक भाव से है ।

छठा भंग चारों गति के संसारी जीवों की अपेक्षा जानना चाहिये । उनके नारकत्वादि पर्याय औदयिक भाव से, इन्द्रिय मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव से और जीवत्व, भव्यत्व या अभव्यत्व पारिणामिक भाव से होता है ।

यह भंग गति के भेद से चार प्रकार का है—नरकगति में औदयिक भाव से नारकत्व, क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि और पारिणामिक भाव से जीवत्व, भव्यत्व अथवा जीवत्व, अभव्यत्व होता है । तिर्यचगति में औदयिक भाव से तिर्यग्योनित्व, क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि और पारिणामिक भाव से जीवत्व आदि घटित होता है । इसी तरह मनुष्य और देवगति की अपेक्षा भी विचार कर लेना चाहिये ।

पूर्वोक्त त्रिकसंयोगी भंग—औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक भाव में क्षायिक भाव को मिलाने पर चतुःसंयोगी भंग होता है । जो इस प्रकार समझना चाहिये—औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक । यह चतुःसंयोगी पांच भंगों में से चौथा भंग है । यह भंग भी पूर्वोक्त त्रिकसंयोगी भंग की तरह गति के भेद से चार प्रकार का है । उसमें औदयिक भाव से मनुष्यत्वादि, क्षायिक भाव से सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक भाव से मतिज्ञानादि और पारिणामिक भाव से जीवत्व और भव्यत्व होता है । अथवा पूर्वोक्त त्रिकसंयोगी भंग के साथ औपशमिक भाव को जोड़ने पर भी चतुःसंयोगी भंग होता है और वह इस प्रकार है—क्षायोपशमिक-औपशमिक-औदयिक-पारिणामिक । यह चतुःसंयोगी भंगों में का तीसरा भंग है । जो पूर्वोक्त भंग की तरह गति के भेद से चार प्रकार का है । लेकिन इतना विशेष है कि क्षायिक सम्यक्त्व के स्थान पर उपशम सम्यक्त्व जानना चाहिये ।

पंचसंयोगी भंग क्षायिक सम्यक्त्व में उपशम श्रेणि के आरोहक

के घटित होता है, अन्यत्र घटित नहीं होता है। वह भंग इस प्रकार है—औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक। उसमें औदयिक भाव में मनुष्यगति आदि, औपशमिक भाव में चारित्र्य, क्षायिक भाव में सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक भाव में मतिज्ञानादि और पारिणामिक भाव में जीवत्व और भव्यत्व होता है।

इस प्रकार अवान्तर भंगों के भेदों की अपेक्षा से कुल पन्द्रह भेद घटित होते हैं।^१ इन पन्द्रह भंगों की अपेक्षा से द्विक, त्रिक, चतुष्क और पंचक रूप सान्निपातिक भाव युक्त जीव होते हैं। इसी का गाथा में संकेत किया है कि—‘दुगतिगचउपंचमीसेहि’—दो, तीन, चार, पांच भाव से युक्त जीव हैं।

इस प्रकार से भावों का स्वरूप, उनके द्विक आदि के संयोग से होने वाले भंग एवं कौन-कौन से भंग किस प्रकार घटित होते हैं, यह बतलाने के बाद अब पूर्व में जो ‘कथं? सरीरे लोएव’ जीव कहाँ रहते हैं? और इस प्रश्न के उत्तर में जीव शरीर में रहते हैं, यह कहा था तो चतुर्गति के जीवों में से जिसके जितने शरीर संभव हैं, उसका वर्णन करते हैं।

संसारी जीवों में संभव शरीर

सुरनेरइया तिसु तिसु वाउर्पाण्दीतिरक्ख चउ चउसु।

मणुया पंचसु सेसा तिसु तणुसु अविग्गहा सिद्धा ॥४॥

१ सान्निपातिक भावों के पन्द्रह भंग इस प्रकार से घटित होते हैं—औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक यह एक भंग चार गति के भेद से चार प्रकार का है। इन तीन के साथ क्षायिक भाव को जोड़ने पर चतुःसंयोगी भंग के भी चार भेद होते हैं। अथवा क्षायिक के स्थान पर उपशम को जोड़ने पर भी चार गति के भेद से चार भेद होते हैं। इस प्रकार बारह भेद हुए। इनमें उपशमश्रेणि का पंचसंयोगी एक भंग, केवलि भगवान् का त्रिकसंयोगी एक भंग और सिद्ध का द्विकसंयोगी एक भंग। इन सबका कुल जोड़ पन्द्रह (१२ + १ + १ + १ = १५) होता है।

शब्दार्थ—सुरनेरइया—देव और नारक, तिसु-तिसु—तीन-तीन में, वाउ—वायुकायिक, पर्णिदी—पंचेन्द्रिय, तिरक्ख—तिर्यच, चउ-चउसु—चार-चार में, मणुया—मनुष्य, पंचसु—पांच में, सेसा—शेष जीव, तिसु—तीन, तणुसु—शरीर में, अविग्गहा—अशरीरी, सिद्धा—सिद्ध ।

गाथार्थ—देव और नारक तीन-तीन शरीर में, वायुकायिक और पंचेन्द्रिय तिर्यच चार-चार शरीर में, मनुष्य पांच शरीर में और शेष जीव तीन शरीर में होते हैं । सिद्ध अशरीरी हैं ।

विशेषार्थ—‘सुरनेरइया तिसु-तिसु’ अर्थात् देव और नारक तीन-तीन शरीर में होते हैं, यानि उनके तीन शरीर होते हैं । वे तीन शरीर इस प्रकार हैं—तैजस, कार्मण और वैक्रिय । इनमें से तैजस और कार्मण तो अनादिकाल से सभी संसारी जीवों में होते ही हैं ।^१ अतः वे तो होंगे ही तथा देव और नारकों का भवधारणीय शरीर वैक्रिय है ।^२ इसीलिये देव और नारकों के तैजस, कार्मण और वैक्रिय यह तीन शरीर होते हैं ।

वायुकायिक और गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचों के पूर्वोक्त तीन शरीरों के साथ चौथा औदारिक शरीर मिलाने से चार-चार शरीर होते हैं । तैजस और कार्मण तो सामान्य हैं ही तथा इनका भवधारणीय शरीर औदारिक होता है तथा वैक्रिय शरीर वैक्रियलब्धिसम्पन्न वायुकायिक जीवों और गर्भज तिर्यचों में पाया जाता है । इसीलिये वायुकायिक जीवों और गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचों में चार-चार शरीर होते हैं—‘वाउपर्णिदीतिरक्ख चउ-चउसु’ ।

मनुष्यों के पांच शरीर होते हैं । उनमें से वैक्रिय शरीर वैक्रियलब्धि वालों के और आहारक शरीर आहारकलब्धिसम्पन्न चतुर्दश पूर्वधर को होता है तथा औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर

१ अनादिसम्बन्धे च । सर्वस्य ।

२ वैक्रियमौपपातिकम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र २/४२, ४३

—तत्त्वार्थसूत्र २/४७

तो सामान्यतः सभी तिर्यचों और मनुष्यों के होते हैं। इसीलिये मनुष्यों में पांच शरीर होते हैं—‘मणुया पंचसु’।

पूर्वोक्त से शेष रहे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंजी पंचेन्द्रिय तिर्यचों और मनुष्यों के औदारिक, तैजस, कार्मण यह तीन शरीर होते हैं—‘सेसा तिसु तणुसु’ तथा समस्त कर्ममलरूप कलंक से रहित सिद्ध जीवों के एक भी शरीर नहीं होता है—‘अविग्गहा सिद्धा’। क्योंकि सकर्मा होने से संसारी जीवों में ही शरीर पाया जाता है, किन्तु सिद्धों के तो संसार के कारणभूत सभी कर्मों का क्षय हो जाने से शरीर होता ही नहीं है।

इस प्रकार किम् आदि पदों द्वारा जीव की प्ररूपणा जानना चाहिये।

सत्पद आदि पदों द्वारा जीव-प्ररूपणा

अब दूसरे प्रकार से सत्पद आदि नौ पदों द्वारा जीव की प्ररूपणा करते हैं। नौ पदों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सत्पदप्ररूपणा, २. द्रव्य प्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाग, ८. भाव और ९. अल्पबहुत्व। इनमें से प्रथम सत्पदप्ररूपणा करते हैं—

पुढ्वाईचउ चउहा साहारवणंपि संतयं सययं ।

पत्तेय पज्जपज्जा दुविहा सेसा उ उववन्ना ॥५॥

शब्दार्थ—पुढ्वाईचउ—पृथ्वीकाय आदि चार, चउहा—चार प्रकार के, साहारवणंपि—साधारण वनस्पतिकाय भी, संतयं—विद्यमान होते हैं, सययं—सदैव—निरन्तर, पत्तेय—प्रत्येक वनस्पतिकाय, पज्जपज्जा—पर्याप्त-अपर्याप्त, दुविहा—दो प्रकार के, सेसा—शेष, उ—और, उववन्ना—उत्पन्न हुए।

गाथार्थ—पृथ्वीकाय आदि चार-चार प्रकार के तथा साधारण वनस्पतिकाय भी चार प्रकार के हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के सदैव-निरन्तर विद्यमान

होते हैं और शेष जीव पूर्व उत्पन्न हुए होते हैं, किन्तु उत्पद्यमान की भजना समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—जीवस्थानों में जीवों की विद्यमानता के निरूपण को सत्पदप्ररूपणा कहते हैं । जिसका विचार गाथा में किया गया है ।

जीवस्थानों के चौदह भेद हैं । उनमें से 'पुढवाईचउ'—पृथ्वी-कायादि चार अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय ये प्रत्येक 'चउहा'—सूक्ष्म और बादर तथा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार-चार प्रकार के हैं और सब मिलाकर इनके सोलह भेद होते हैं ।

इसी प्रकार से साधारण वनस्पति जीव भी सूक्ष्म और बादर तथा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार प्रकार के जानना चाहिये—'साहारणवणंपि' तथा 'पत्तेय पञ्जपञ्जा' अर्थात् प्रत्येक वनस्पतिकाय जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं । इस तरह एकेन्द्रिय के कुल बाईस भेद होते हैं ।

ये सभी प्रत्येक भेद पूर्वोत्पन्न और उत्पद्यमान इस तरह दो-दो प्रकार के हैं । ये बाईस भेद वाले जीव प्रागुत्पन्न और वर्तमान में उत्पन्न होते हुए निरन्तर होते हैं—'संतयं सययं', किन्तु उनका विरह-काल नहीं होता है । यानी सदैव विद्यमान रहते हैं ।

'सेसा उ' शेषास्तु अर्थात् पूर्वोक्त एकेन्द्रिय से शेष रहे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय ये प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ये सभी प्रकार के जीव प्रागुत्पन्न होते हैं और उत्पद्यमान भजनीय हैं । अर्थात् ये नौ प्रकार के जीव पूर्वोत्पन्न तो निरन्तर होते हैं, परन्तु विवक्षित समय में उत्पन्न होते हुए कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं तथा गाथा में 'सेसा उ' 'सेसा' के बाद आगत 'उ तु' शब्द अनेकार्थक होने से यह आशय समझना चाहिये कि संज्ञी लब्धि-अपर्याप्त प्रागुत्पन्न और उत्पद्यमान इस तरह दोनों प्रकार से भजनीय हैं । इसका कारण यह है कि लब्धि-

अपर्याप्त संज्ञी की आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, अतएव उनका अवस्थान उतना ही हो सकता है और उनका उत्पत्ति की अपेक्षा विरहकाल बारह मुहूर्त का है। अतएव उत्पन्न होने के बाद विरहकाल पड़े और प्रागुत्पन्न अपनी आयु पूर्ण करके मरण को प्राप्त करें तो कुछ अधिक ग्यारह मुहूर्त पर्यन्त एक भी लब्ध-अपर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय प्रागुत्पन्न या उत्पद्यमान नहीं हो सकता है। इसीलिये प्रागुत्पन्न की भी भजना बतलाई है।

प्रश्न—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध-पर्याप्तक भी अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले हैं और उनका विरहकाल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाया है। अतएव वे भी प्रागुत्पन्न भजना से क्यों नहीं होते हैं? यानि लब्ध-अपर्याप्तक संज्ञी की तरह वे भी प्रागुत्पन्न हों या न भी हों, ऐसा क्यों नहीं माना जाये?

उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि विरहकाल से भी उनकी आयु का अन्तर्मुहूर्त बड़ा है। अतएव विरहकाल पूर्ण होने पर भी प्रागुत्पन्न जीव विद्यमान होते हैं, जिससे प्रागुत्पन्न जीवों की अपेक्षा भजना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—विरहकाल की अपेक्षा आयु का अन्तर्मुहूर्त बड़ा है, यह कैसे जाना जा सकता है?

उत्तर—ग्रन्थान्तरों में जहाँ नित्य राशियों का विचार किया है, वहाँ जो नित्य राशियां गिनाई हैं, उनके साथ लब्ध-अपर्याप्तक द्वीन्द्रियादिक की भी गणना की है और वह गणना तभी हो सकती है जब विरहकाल से आयु का अन्तर्मुहूर्त बड़ा हो।

इस प्रकार सामान्य से जीव के चौदह भेदों का सत्पद-प्ररूपणा द्वारा विचार करने के बाद अब उनमें के अन्तिम भेद (संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक) का चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा सत्पदप्ररूपणा द्वारा विचार करने के लिये पहले गुणस्थानों का सत्पदप्ररूपणा द्वारा विचार करते हैं।

गुणस्थानों की सत्पदप्ररूपणा

मिच्छा अविरयदेसा पमत्त अपमत्तया सजोगी य ।

सव्वद्धं इयरगुणा नाणाजीवेसु वि न होंति ॥६॥

शब्दार्थ—मिच्छा—मिथ्यात्व, अविरय—अविरतसम्यग्दृष्टि, देसा—देशविरत, पमत्त अपमत्तया—प्रमत्त और अप्रमत्त, सजोगी—सयोगिकेवली, य—तथा, सव्वद्धं—सर्व काल, सर्वदा, इयरगुणा—इनके सिवाय दूसरे गुणस्थान, नाणाजीवेसु—अनेक जीवों में, वि—भी, न—नहीं, होंति—होते हैं ।

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त संयत तथा सयोगिकेवली गुणस्थान सर्वदा—सर्व काल होते हैं और इनके सिवाय दूसरे गुणस्थान अनेक जीवों की अपेक्षा भी सर्वदा नहीं होते हैं ।

विशेषार्थ—सत्पदप्ररूपणा की दृष्टि से गाथा में स्पष्ट किया है कि नाना जीवों की अपेक्षा चौदह गुणस्थानों में से कौन-कौन से गुणस्थान तो सर्वदा पाये जाते हैं और कौन से नहीं पाये जाते हैं ।

सर्वप्रथम सदैव प्राप्त होने वाले गुणस्थानों का निर्देश किया है कि मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगिकेवली ये छह गुणस्थान सर्वकाल होते हैं।^१ अर्थात् इन छह गुणस्थानवर्ती जीव निरन्तर होते हैं तथा इन छह गुणस्थानों से शेष रहे सासादनसम्यग्दृष्टि, मिश्र, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह और अयोगिकेवली, ये आठ गुणस्थान एक जीव और अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल नहीं होते हैं । अर्थात् यह सम्भव है कि किसी समय इन आठ गुणस्थानों में से एक भी गुणस्थान में कोई जीव न हो । यदि किसी समय हों तो आठ में से कोई एक गुणस्थान में होते हैं, किसी

१ मिथ्यादृष्टि जीव तो प्रागुत्पन्न और उत्पद्यमान निरन्तर होते हैं और शेष पाच गुणस्थान वाले जीव प्रागुत्पन्न तो निरन्तर होते हैं, परन्तु उत्पन्न होते हों, ऐसा नहीं भी होता है । क्योंकि उनका विरहकाल होता है ।

समय कोई भी दो, किसी समय कोई भी तीन गुणस्थान में हों। इस प्रकार यावत् आठों गुणस्थानों में किसी समय जीव हों तथा उनमें भी किसी समय एक जीव हो, किसी समय अनेक जीव^१ हों और यदि किसी समय न हों तो आठ में से किसी भी गुणस्थान में एक या अनेक की अपेक्षा जीव न हों।^२

इस प्रकार से गुणस्थानों की सत्पदप्ररूपणा करने के पश्चात् अब अनियतकाल-भावी पूर्वोक्त सासादन आदि आठ गुणस्थानों के एक-द्विकादि के संयोग से सम्भव भेदों को बताने के लिये करण-सूत्र गाथा कहते हैं कि—

इगदुगजोगार्इणं ठवियमहो एगणेग इइ जुयलं ।

इगिजोगाउ दुदु गुणा गुणियविमिस्सा भवे भंगा ॥७॥

शब्दार्थ—इगदुगजोगार्इणं—एक, द्विक आदि संयोगी भंगों के, ठवियमहो—नीचे स्थापित कर, एगणेग—एक अनेक, इइ—इनका, जुयलं—युगल, इगि—एक, जोगाउ—संयोग से, दुदु गुणा—द्विगुण, गुणियविमिस्सा—गुणित को मिलाने पर, भवे—होते हैं, भंगा—भंग ।

गाथार्थ—एक, द्विक आदि संयोगी भंगों के नीचे एक-अनेक का युगल स्थापित कर एक संयोग से लेकर द्विगुण कर दो मिलाओ और गुणित को मिलाने पर कुल भंग होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में एक, द्विक आदि के संयोग से बनने वाले भंगों की विधि बतलाई है कि—

एक, दो, तीन आदि प्रत्येक संयोग के नीचे एक और अनेकरूप युगल का सूचक अंक दो (२) रखना चाहिये । तत्पश्चात् जिस पद के संयोग की भंगसंख्या निकालना हो, उस पद के संयोग के नीचे रहे हुए युगल के सूचक दो के अंक का उससे पूर्व के पद के संयोग की भंग-

- १ अनेक जीवों की निश्चित संख्या का उल्लेख आगे किया जाएगा ।
- २ किसी गुणस्थान पर जीव नहीं होते हैं तो कितने काल तक नहीं होते हैं ? इसका विरहकाल आगे कहा जाएगा ।

संख्या के साथ गुणा करना चाहिये और उसमें दो तथा जिसके साथ गुणाकार किया है, उस संख्या को मिलाने पर उस पद की भंगसंख्या प्राप्त होती है।

अब इस सक्षिप्त कथन का विस्तार से विचार करते हैं—

जितने गुणस्थान विकल्प से होते हैं और जिनके एक-अनेक के भेद की संख्या जानना चाहते हैं, असत्कल्पना से उतने बिन्दु रखना चाहिये। यहाँ दूसरा, तीसरा, आठ से बारह तक के पांच और चौदहवां इस प्रकार कुल आठ गुणस्थान विकल्प से होते हैं, इसलिये आठ बिन्दु स्थापित करना चाहिये और प्रत्येक बिन्दु के नीचे इस प्रकार से दो का अंक रखना चाहिए—

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
२ २ २ २ २ २ २ २

इनमें से प्रत्येक पद के दो भंग इस प्रकार जानना चाहिए—
एक और अनेक, ये दो भंग पहली बिन्दु पर रखना चाहिए।

दो पद के आठ भंग होते हैं। जो इस प्रकार समझना चाहिये कि पूर्व में कहा है कि जिस पद की भंगसंख्या निकालना हो, उससे पूर्व पद की भंगसंख्या के साथ गुणाकार करना चाहिये और उसमें दो मिलाकर जिसके साथ गुणाकार किया है, उस संख्या को मिलाने पर कुल भंगसंख्या प्राप्त होती है।

यहाँ दो पदों की भंगसंख्या निकालनी है, इसलिये उससे पूर्व के एक पद के दो भंग होने से उन दो के साथ दो का गुणा करने पर चार हुए, उनमें दो मिलाये और जो दो के साथ गुणाकार किया है, वह संख्या भी मिलाई। जिससे दो पद के आठ ($2 \times 2 = 4 + 2 + 2 = 8$) भंग हुए। ये आठ भंग दूसरी बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

प्रश्न—दो पद के तो चार ही भंग होते हैं। जो इस प्रकार से जानना चाहिए कि १—जब दूसरे और तीसरे गुणस्थान में जीव हों, तब किसी समय एक-एक जीव होता है, २—किसी समय दूसरे पर

एक और तीसरे पर अनेक होते हैं, ३—किसी समय दूसरे पर अनेक और तीसरे पर एक होता है, ४—किसी समय दूसरे और तीसरे दोनों पर अनेक होते हैं। इस प्रकार विचार करने पर दो पद के चार ही विकल्प होते हैं, किन्तु अधिक नहीं होते हैं। अतएव दो पद के आठ भंग सम्भव नहीं हैं।

उत्तर—अभिप्राय न समझने के कारण उक्त प्रश्न अयुक्त है। क्योंकि सासादन और मिश्र ये दोनों गुणस्थान सदैव अवस्थित हों और मात्र भजना एक-अनेकत्व की अपेक्षा ही हो तो तुम्हारे कथनानुसार दो पद के चार भंग होंगे। परन्तु जब सासादन और मिश्र इन दोनों का स्वरूप से ही विकल्प है कि किसी समय सासादन होता है और किसी समय मिश्र एवं किसी समय दोनों होते हैं। अतएव उनमें से जब केवल सासादन हो और उसके एक-अनेक की अपेक्षा दो, इसी प्रकार मिश्र के भी दो और दोनों युगपत् हों तब चार, इस तरह दो पद के आठ भंग होते हैं।

इसी प्रकार जब तीन पद के भंगों का विचार किया जाये, तब तीन पद से पहले के दो पद के आठ भंग होने से आठ को दो से गुणा करके उसमें दो मिलायें और जिन आठ के साथ गुणा किया है उन आठ को भी मिलाया, जिससे तीन पद के कुल छब्बीस ($८ \times २ = १६ + २ + ८ = २६$) भंग हुए। ये छब्बीस भंग तीसरे बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब चार पद के भंगों की संख्या बतलाते हैं—पूर्व के तीन पद की भंगसंख्या छब्बीस के साथ दो का गुणा करने पर बावन हुए। उनमें गुणा करने वाली राशि और जिसमें गुणा किया गया ऐसे पिछले छब्बीस और दो भंग मिलाने पर अस्सी ($२६ \times २ = ५२ + २६ + २ = ८०$) भंग हुए। इन चार पद के भंगों को चौथे बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब पांच पद के भंगों का निर्देश करते हैं—चार पद के पूर्वोक्त

अस्सी भंगों को दो से गुणा करने पर प्राप्त राशि में दो एवं अस्सी को मिलाना चाहिये ($८० \times २ = १६० + २ + ८० = २४२$)। जिससे पांच पद के कुल दो सौ बयालीस भंग होते हैं, जिन्हें पांचवें बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब छह पद के भंग कहते हैं—पूर्वोक्त पांच पद की दो सौ बयालीस भंग संख्या में नीचे के दो अंक से गुणा करना चाहिये और उसमें दो तथा जिस संख्या में दो से गुणा किया है, उस दो सौ बयालीस की संख्या को मिलाने पर छह पद की कुल भंगसंख्या सात सौ अट्ठाईस होती है। जिसका रूप इस प्रकार होगा ($२४२ \times २ = ४८४ + २४२ + २ = ७२८$)। इसको छठे बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब सात पद की भंगसंख्या बतलाते हैं कि पूर्वोक्त सात सौ अट्ठाईस को दो से गुणा करके दो और पूर्वोक्त सात सौ अट्ठाईस को मिलाने पर कुल संख्या ($७२८ \times २ + २ + ७२८ = २१८६$) इक्कीस सौ छियासी होगी। जिसे सातवें बिन्दु पर रखना चाहिये।

अब आठ पद की भंगसंख्या बतलाते हैं कि पूर्वोक्त इक्कीस सौ छियासी को दो से गुणा करके उसमें दो और सात पद की भंगसंख्या इक्कास सौ छियासी को मिलाया जिससे आठ पद की कुल भंगसंख्या पैसठ सौ साठ ($२१८६ \times २ + २१८६ + २ = ६५६०$) हो जाता है।

सरलता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार का है—

२	८	२६	८०	२४२	७२८	२१८६	६५६०
०	०	०	०	०	०	०	०
२	२	२	२	२	२	२	२

इस प्रकार सासादन आदि आठ गुणस्थानों के द्विक आदि के संयोग से बनने वाले भंगों की विधि और उनकी संख्या जानना चाहिये। अब इन्हीं भंगों को गिनने की दूसरी रीति कहते हैं—

अहवा एक्कपईया दो भगा इगिबहुत्तसन्ना जे।

ते न्चिय पयवुड्डीए तिगुणा दुगसंजुया भगा ॥८॥

शब्दार्थ—अहवा—अथवा, एककपईया—एक-एक पद के, दो—दो, भंगा—भंग, इगिबहुत्तसन्ना—एकत्व और बहुत्व संज्ञा वाले, जे—जो, ते च्चिच्य—उन्हीं को, पयबुड्डीए—पद की वृद्धि में, तिगुणा—तिगुना करके, दुगसंजुया—दो को मिलाने पर, भंगा—भंग ।

गाथार्थ—अथवा एकत्व और बहुत्व संज्ञा वाले एक-एक पद के जो दो-दो भंग होते हैं, उनको पद की वृद्धि में तिगुना करके दो को मिलाने पर कुल भंग होते हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व में प्रत्येक पद के भंग निकालने की जो विधि बतलाई है, उससे भिन्न दूसरे प्रकार की विधि यह है कि—

जब आठ में से कोई भी एक गुणस्थान हो तब उसके एक और अनेक के भेद से दो-दो भंग होते हैं । जैसे कि जब एक सासादन गुणस्थान में ही जीव हों, अन्यत्र सात गुणस्थानों में जीव न हों और उसमें भी किसी समय एक हो, किसी समय अनेक हों, इस तरह एक-अनेक के भेद से दो भंग होते हैं । इस प्रकार एक-एक पद के दो-दो भंग हुए ।

अब इस नियम के अनुसार दो, तीन आदि पद के एक-अनेक के होने वाले भंगों को जानने की विधि बतलाते हैं कि जितनेवें पद के एक-अनेक के भंग जानने की इच्छा हो, उससे पहले के पद की भंग-संख्या को तिगुना करके उसमें दो जोड़ देना चाहिये, जिससे इच्छित पद की भंगसंख्या प्राप्त होती है । जैसे कि दो पद की संख्या निकालनी हो, तब उससे पूर्व की भंगसंख्या जो दो है, उसे तिगुना करके दो जोड़ने पर दो के भंगों की आठ संख्या प्राप्त होती है ।

यदि तीन पद की भंगसंख्या जानना हो, तब उससे पूर्व के दो पद के आठ भंगों को तिगुना करके उसमें दो को मिलाने पर तीन पद के एक-अनेक की भंगसंख्या छब्बीस प्राप्त होती है तथा इसी प्रकार छब्बीस को तिगुना करके उसमें दो को मिलाने पर चार पद के अस्सी भंग हो जाते हैं ।

इसी विधि से पांच पद के दो सौ बयालीस, छह पद के सात सौ

अट्टाईस, सात पद के इक्कीस सौ छियासी और आठ पद के पैंसठ सौ साठ भंग प्राप्त करना चाहिये ।

इस प्रकार से सत्पदप्ररूपणा का विचार जानना चाहिये । अब द्रव्यप्रमाण—चौदह जीवस्थानों में से प्रत्येक जीवस्थान की तथा गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या बतलाते हैं ।

द्रव्यप्रमाण

साधारणाण भेया चउरो अणंता असंखया सेसा ।

मिच्छाणंता चउरो पलियासंखंस सेस संखेज्जा ॥६॥

शब्दार्थ—साधारणाण—साधारण के, भेया—भेद, चउरो—चारों, अणंता—अनन्त, असंखया—असंख्य, सेसा—शेष भेद, मिच्छा—मिथ्यादृष्टि, णंता—अनन्त, चउरो—चार, पलियासंखंस—पल्योपम के असंख्यातवें भाग, सेस—शेष, संखेज्जा—संख्यात ।

गाथार्थ—साधारण वनस्पति के चारों भेद अनन्त हैं और शेष भेद असंख्यात हैं । मिथ्यादृष्टि अनन्त हैं, उसके बाद के चार गुणस्थान वाले पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण एवं शेष गुणस्थानवर्ती जीव संख्यात हैं ।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में क्रमशः जीवस्थानों और गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाया है ।

जीवस्थानों की अपेक्षा जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाने के लिये कहा है कि साधारण वनस्पतिकाय के चारों भेद—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त अनन्त संख्या प्रमाण हैं । क्योंकि ये जीव अनन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं तथा सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त के रूप से चार-चार प्रकार के शेष पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और पर्याप्त-अपर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय तथा पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय, कुल अट्टाईस प्रकार के जीवों की संख्या असंख्यात प्रमाण है । क्योंकि प्रत्येक भेद वाले ये जीव असंख्यात प्रमाण हैं ।

शंका—अपर्याप्त संज्ञी जीव असंख्यात कैसे कहे जा सकते हैं ? क्योंकि वे हमेशा होते नहीं हैं, उनकी आयु अन्तमुहूर्त है और विरहकाल बारह मुहूर्त है। इसलिये कुछ अधिक ग्यारह मुहूर्त तक तो एक भी अपर्याप्त संज्ञी जीव होता नहीं है, तो फिर असंख्यात कैसे माने जा सकते हैं ?

समाधान—उपर्युक्त दोष सम्भव नहीं है। क्योंकि यद्यपि वे सदैव नहीं होते हैं, किन्तु जब भी होते हैं तब जघन्य से एक-दो और उत्कृष्ट से असंख्यात होते हैं। जब होते हैं तब उपर्युक्त संख्या का सद्भाव है। इसलिये असंख्यात कहने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। कहा भी है—

‘एगो व दो व तिननि व संखमसंखा व एगसमएण’

अर्थात्—एक समय में एक, दो, तीन, संख्यात, अथवा असंख्यात उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार सामान्य से जीवभेदापेक्षा संख्याप्रमाण जानना चाहिये। अब गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाते हैं कि—

‘मिच्छाणंता’ अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं। क्योंकि वे अनन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं। समस्त निगोदिया जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं और निगोदराशि अनन्त है। अतएव अनन्त संख्या की पूर्ति करने वाले वे ही जीव हैं और उन्हीं के कारण मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या अनन्त मानी जाती है। तथा—

‘चउरो पलियासंखंस’ अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान से अनन्तरवर्ती चार गुणस्थान वाले जीव यानि सासादनसम्यग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थान वाले जीव क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। यद्यपि अध्रुव होने से सासादन और मिश्रदृष्टि गुणस्थान वाले जीव सदैव नहीं होते हैं परन्तु जब होते हैं तब जघन्य से एक-दो और उत्कृष्ट से क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत जीव सदैव होते हैं। क्योंकि ये दोनों गणस्थान ध्रुव हैं। मात्र किसी समय कम होते हैं और किसी समय अधिक होते हैं। फिर भी दोनों गुणस्थान वाले जीव जघन्य से भी क्षेत्रपत्योपम के असंख्यातवें भाग में विद्यमान प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं और उत्कृष्ट से भी इतने ही हैं। परन्तु असंख्यात के असंख्यात भेद होने से जघन्य पत्योपम के असंख्यातवें भाग से उत्कृष्ट पत्योपम का असंख्यातवां भाग असंख्यात गुणा बड़ा जानना चाहिये तथा देशविरत से अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य से और उत्कृष्ट से बहुत अधिक समझना चाहिये। क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि तो चारों गति में ही होते हैं और देशविरत मात्र मनुष्य और तिर्यच गति में ही होते हैं।

पूर्वोक्त पांच गुणस्थानों से शेष रहे प्रमत्त आदि प्रत्येक गुणस्थान के जीव निश्चित संख्या वाले ही होते हैं 'सैस संखेज्जा'। क्योंकि ये गुणस्थान सिर्फ मनुष्यगति में ही प्राप्त होते हैं। इनकी निश्चित संख्या का प्रमाण आगे बताया जा रहा है।

इस प्रकार सामान्य से द्रव्यप्रमाण का निर्देश करने के बाद अब विशेष विस्तार से द्रव्यप्रमाण का विवेचन करते हैं।

विस्तार से द्रव्यप्रमाण विवेचन

पत्तेयपज्जवणकाइयाउ पयरं हरंति लोगस्स ।

अंगुल-असंखभागेण भाइयं भूदगतणू य ॥१०॥

शब्दार्थ—पत्तेय—प्रत्येक, पज्ज—पर्याप्त, वणकाइया—वनस्पतिकायिक, उ—और, पयरं—प्रतर, हरंति—अपहार करते हैं, लोगस्स—लोक के, अंगुल-असंख-भागेण—अंगुल के असंख्यातवें भाग द्वारा, भाइयं—भाजित, भूदगतणू—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, य—और।

गाथार्थ—पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय, पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय और जलकाय के जीव अंगुल के असंख्यातवें भाग द्वारा विभाजित लोक सम्बन्धी प्रतर का अपहार करते हैं।

विशेषार्थ—पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय, पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय और पर्याप्त बादर जलकाय के जीव सात राजू प्रमाण

घनीकृत लोक^१ के ऊपर नीचे के प्रदेश रहित एक-एक प्रदेश की मोटाई-रूप मंडक के आकार वाले प्रतर^२ को अंगुलमात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश के द्वारा विभाजित करते हुए अपहार करते हैं ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि समस्त पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय के जीव एक ही समय में सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करने के लिये उद्यत हों और यदि एक साथ एक-एक जीव अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण एक-एक खण्ड को अपहृत करें—ग्रहण करें तो एक ही समय में वे समस्त जीव उस सम्पूर्ण प्रतर को अपहृत करते हैं—ग्रहण करते हैं । जिससे यह अर्थ फलित हुआ कि घनीकृत लोक के एक प्रतर में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जितने खण्ड होते हैं, उतने पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव हैं तथा इसी प्रकार 'भूदगतणू य'—यानि पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय और जलकाय के जीवों के प्रमाण के लिये भी समझ लेना चाहिये कि वे भी घनीकृत लोक के एक प्रतर में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जितने खण्ड होते हैं, उतने हैं ।

यद्यपि सामान्य से देखने पर इन तीनों प्रकार के जीवों का प्रमाण समान है । फिर भी अंगुल के असंख्यातवें भाग के असंख्यात भेद होने से इन तीनों का इस प्रकार अल्पबहुत्व समझना चाहिये—

पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव अल्प हैं, उनसे पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं और उनसे भी (पर्याप्त बादर

१ चौदह राजू ऊँचे लोक को घनीकृत करने की विधि को परिशिष्ट में देखिये ।

२ चौदह राजूप्रमाण लोक को बुद्धि द्वारा सात राजू लम्बा, चौड़ा और ऊँचा करना घनीकृत लोक कहता है । उसकी एक-एक प्रदेश लम्बी-चौड़ी और सात राजू ऊँची आकाशप्रदेश की पंक्ति को सूचिश्रेणि और सूचिश्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते हैं ।

पृथ्वीकाय के जीवों से) पर्याप्त बादर जलकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं ।^१ तथा—

आवलिबग्गो अन्तरावलीय गुणिओ हु बायरा तेऊ ।

वाऊ य लोगसंखं सेसतिगमसंखिया लोगा ॥११॥

शब्दार्थ—आवलिबग्गो—आवलि के वर्ग को, अन्तरावलीय—अन्तरावलिका से—कुछ न्यून आवलिका से, गुणिओ—गुणा करने पर, हु—ही, बायरा तेऊ—बादर तेजस्काय के जीवों का प्रमाण, वाऊ—वायुकाय के जीव, य—और, लोगसंखं—लोक के संख्यातवें भाग में, सेसतिगं—शेष तीन, असंखिया—असंख्यातवें भाग, लोगा—लोक के ।

गाथार्थ—आवलिका के वर्ग को अन्तरावलिका के समयों द्वारा गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उतने बादर तेजस्काय के जीव हैं और लोक के संख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने ही बादर वायुकाय के जीव जानना चाहिये तथा शेष तीन असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ—प्रत्येक बादर वनस्पति आदि तीन काय के जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाने के बाद अब इस गाथा में बादर तेजस् और वायु काय के जीवों का प्रमाण और इन पांचों स्थावर जीवों के भेदों

१ प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव अल्प हैं और पृथ्वीकाय के जीवों के असंख्यातगुणे होने का कारण यह है कि वनस्पतिकाय से पृथ्वीकाय का शरीर सूक्ष्म है और उत्पत्तिस्थान का क्षेत्र विशाल है । वनस्पतिकाय के जीव मात्र रत्नप्रभा के ऊपर के तल में विद्यमान पृथ्वी, नदी, समुद्र और उपवन आदि में उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीकायिक जीव तो नरकों के असंख्य योजनप्रमाण लम्बे-चौड़े पृथ्वीपिंडों, देवलोक के बड़े-बड़े विमानों आदि स्थानों पर उत्पन्न होते हैं । उनसे अप्कायिक जीवों का शरीर सूक्ष्म और उनका उत्पत्तिस्थान विशाल होने से वे पृथ्वीकायिक जीवों से भी असंख्यातगुणे हैं । क्योंकि ये असंख्यात समुद्रों और घनोदधिपिंडों में उत्पन्न होते हैं ।

का अल्पबहुत्व बतलाया है। पहले बादर तेजस्काय और वायुकाय के जीवों का प्रमाण बतलाते हैं।

आवलिका के वर्ग को कुछ न्यून आवलिका के समयों द्वारा गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उतने बादर पर्याप्त तेजस्काय के जीव हैं। असत्कल्पना से जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—

असंख्यात समय की एक आवलिका होती है, लेकिन असत्कल्पना से उसे दस समय की मानकर उसका वर्ग करें, जिससे दस को दस से गुणा करने पर सौ हुए। उनको कुछ कम आवलिका के समयों द्वारा गुणा करें। यहाँ कुछ कम का प्रमाण दो समय लें तो आवलिका के कुल दस समयों में से दो को कम कर आठ समयों द्वारा गुणा करने पर आठ सौ हुए। यह बादर तेजस्काय के जीव का प्रमाण जानना चाहिये। लेकिन यथार्थरूप से तो आवलिका के समय चौथे असंख्यात जितने होने से चौथे असंख्यात की संख्या को उसी संख्या से गुणा करने पर जो राशि प्राप्त हो, उसको कुछ कम चौथे असंख्यात की संख्या से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उतने बादर तेजस्काय के जीव हैं।

पर्याप्त बादर वायुकाय के जीव लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं— 'वाऊ य लोगसंख'। अर्थात् घनीकृत लोक के असंख्याता प्रतर के संख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण पर्याप्त बादर वायुकाय के जीव हैं।

इस प्रकार से पर्याप्त बादर स्थावर जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाने के बाद अब उनके अल्पबहुत्व का विवेचन करते हैं।

बादर पर्याप्त तेजस्काय के जीव सबसे अल्प हैं, उनसे पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं, उनसे पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं, उनसे पर्याप्त बादर जलकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं और उनसे पर्याप्त बादर वायुकाय

के जीव असंख्यातगुणे हैं^१ और उनसे 'सेसतिगमसंख्या लोगा'—शेष त्रिक (तीन) असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं ।

यहाँ शेषत्रिक से अपर्याप्त बादर और अपर्याप्त, पर्याप्त सूक्ष्म का ग्रहण समझना चाहिये । जिसका यह अर्थ हुआ कि अपर्याप्त बादर पृथ्वी, जल, तेज और वायु तथा पर्याप्त, अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी, जल, तेज और वायु, ये प्रत्येक प्रकार के जीव असंख्येय लोकाकाश में विद्यमान आकाशप्रदेश प्रमाण हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त राशित्रिक का सामान्य से अल्पबहुत्व जानना चाहिये ।

यदि उक्त राशित्रिक का स्वस्थान में विशेषापेक्षा अल्पबहुत्व का विचार करें तो वह इस प्रकार है—अपर्याप्त बादर सबसे अल्प हैं, उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म असंख्यातगुण हैं, उनसे पर्याप्त सूक्ष्म संख्यातगुण हैं ।

शेषत्रिक का ग्रहण उपलक्षण-सूचक है । अतः उसका यह अर्थ समझना चाहिये कि अपर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय भी असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं तथा यह पहले कहा जा चुका है कि साधारण वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त ये चारों भेद वाले जीव सामान्यतः अनन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं तथा विशेषतः विचार करने पर उनका अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिये कि बादर पर्याप्त साधारण जीव अल्प हैं, उनसे बादर अपर्याप्त साधारण असंख्यातगुणे, उनसे सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण असंख्यातगुणे हैं और उनसे पर्याप्त सूक्ष्म साधारण संख्यातगुणे हैं ।^२

१ बादर पर्याप्त तेजस्काय के जीव अल्प होने का कारण उनका सद्भाव मात्र ढाई द्वीप में ही है और वायुकाय के जीवों के सबसे अधिक होने का कारण क्षेत्र की विपुलता है । लोक के समस्त क्षेत्र में वायुकाय के जीव हैं ।

२ दिगम्बर साहित्य में बताये गये स्थावर जीवों के प्रमाण को परिशिष्ट में देखिये ।

इस प्रकार से एकेन्द्रियों की संख्या बतलाने के बाद अब विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या बतलाते हैं—

पञ्जापञ्जा बितिचउ असन्निणो अवहरंति ।

अंगुल-संखासंखप्पएसभइयं पुढो पयरं ॥१२॥

शब्दार्थ—पञ्जापञ्जा—पर्याप्त, अपर्याप्त, बितिचउ असन्निणो—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अवहरंति—अपहार करते हैं, अंगुल संखासंखप्पएस—अंगुल के संख्यातवें और असंख्यातवें भाग प्रदेश से, भइयं—विभाजित, पुढो—(पृथक्) प्रत्येक, पयरं—प्रतर ।

गाथार्थ—पर्याप्त, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, ये प्रत्येक जीव अनुक्रम से अंगुल के संख्यातवें और असंख्यातवें भाग द्वारा विभाजित प्रतर का अपहार करते हैं ।

विशेषार्थ—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय—ये प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त जीव अनुक्रम से अंगुल के संख्यातवें और असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश द्वारा विभाजित करते हुए सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करते हैं । जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

समस्त पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव एक साथ यदि अंगुलमात्र क्षेत्र के संख्यातवें भाग प्रमाण प्रतर के खण्ड का अपहार करें तो वे समस्त द्वीन्द्रिय जीव एक ही समय में सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि सात राजूप्रमाण घनोक्त लोक के एक प्रतर के अंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण जितने खण्ड हों, उतने पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव हैं ।

इसी प्रकार पर्याप्त त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के लिये भी समझना चाहिये ।

अब अपर्याप्त विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण बतलाते हैं कि एक प्रतर के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जितने खण्ड हों, उतने अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी

पंचेन्द्रिय जीव समझना चाहिये । यानि एक प्रतर के आकाशप्रदेशों को अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे आकाशप्रदेशों द्वारा विभाजित करने पर जो प्राप्त हो उतना अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि प्रत्येक जीवों का प्रमाण है ।

यद्यपि ये समस्त पर्याप्त और अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि जीव सामान्य से तो समान प्रमाण वाले बतलाये हैं, फिर भी अंगुल का संख्यातवाँ और असंख्यातवाँ भाग छोटा, बड़ा लेने के कारण विशेषापेक्षा उनका अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिये—

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय जीव सबसे अल्प, उनसे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय विशेषाधिक^१, उनसे पर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक, उनसे पर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक, उनसे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय असंख्यात गुण, उनसे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक, उनसे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक और उनसे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का प्रमाण जानना चाहिये । अब शेष रहे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के प्रमाण की प्ररूपणा करते हैं ।

संज्ञी जीवों का प्रमाण

सन्नो चउसु गईसु पढमाए असंखसेढि नेरइया ।

सेढिअसंखेज्जंसो सेसासु जहोत्तरं तह य ॥१३॥

शब्दार्थ—सन्नी—संज्ञी जीव, चउसु गईसु—चारों गतियों में, पढमाए—पहले नरक में, असंखसेढि—असंख्यात सूचिश्रेणि, नेरइया—नारक, सेढिअसंखेज्जंसो—श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण, सेसासु—शेष नरकों में, जहोत्तरं—यथा उत्तर अर्थात् उत्तरोत्तर, तह—तथारूप, य—और ।

गाथार्थ—संज्ञी जीव चारों गतियों में होते हैं । पहले नरक में

- १ एक संख्या अन्य संख्या से बड़ी होकर भी जब तक दुगुनी न हो, तब तक वह उससे विशेषाधिक कही जाती है । जैसे कि ४ या ५ की संख्या ३ से विशेषाधिक है, किन्तु ६ की संख्या ३ से दुगुनी है, विशेषाधिक नहीं है ।

असंख्यात सूचिश्रेणिप्रमाण नारक हैं और शेष नरकों में श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण नारक हैं और उन्हें यथोत्तर के क्रम से तथारूप अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के भेद से संसारी जीवों की चार गतियाँ हैं और संज्ञी जीव चारों गतियों में होते हैं । इसलिये चारों गतियों की अपेक्षा संज्ञी जीवों का विचार करना अपेक्षित है । सर्वप्रथम नरकगति की अपेक्षा विचार करते हैं—

‘पढमाए असंखसेढि नेरइया’ अर्थात् पहली रत्नप्रभा नरकपृथ्वी में सात राजूप्रमाण घनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी असंख्याती सूचिश्रेणिप्रमाण नारक हैं । अर्थात् असंख्याती सूचिश्रेणि के जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने पहले नरक में नारक हैं तथा शेष दूसरी आदि नरकपृथ्वी में सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग, परन्तु उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व पृथ्वी में रहे हुए नारकों की अपेक्षा असंख्यातवें भाग, असंख्यातवें भाग जानना चाहिये—‘सेढिअसंखेज्जंसो सेसासु जहोत्तरं तह’ । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहली पृथ्वी के नारकों से दूसरी पृथ्वी में नारक श्रेणि के असंख्यातवें भाग, दूसरी नरकपृथ्वी में रहे हुए नारकों की अपेक्षा तीसरी नरकपृथ्वी में असंख्यातवें भाग प्रमाण नारक हैं, तीसरी पृथ्वी की अपेक्षा चौथी पृथ्वी में असंख्यातवें भाग प्रमाण नारक हैं, इत्यादि । इसी प्रकार सातों नरकपृथ्वियों के नारकों के लिये समझना चाहिये । उत्तरोत्तर श्रेणि का असंख्यातवाँ भाग छोटा-छोटा होने से यह अल्पबहुत्व घट सकता है ।^१

१ यहाँ बताई गई नारकों की संख्या से गोम्मटसार जीवकांड में दी हुई नारकों की संख्या में भिन्नता है—

सामण्णा णेरइया घणअंगुलविदियमूलगुणसेढी ।

विदियादि वार दस अड छत्ति दुणिजपवहिवा सेढी ॥१५३॥

प्रश्न—यह कैसे समझा जाये कि दूसरी पृथ्वी से लेकर उत्तरोत्तर असंख्यातवें भाग, असंख्यातवें भाग प्रमाण नारक हैं ?

उत्तर—युक्ति से यह समझा जा सकता है और वह युक्ति इस प्रकार है—सातवीं नारकपृथ्वी में पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में रहे हुए नारक अल्प हैं, किन्तु उनसे उसी सातवीं नारकपृथ्वी की दक्षिणदिशा में रहे हुए नारक असंख्यात गुणे हैं ।

प्रश्न—दक्षिणदिशा में असंख्यात गुणे क्यों हैं ?

उत्तर—जगत में दो प्रकार के जीव हैं—(१) शुक्लपाक्षिक, (२) कृष्णपाक्षिक । इन दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—जिन जीवों का कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र संसार ही शेष हो, वे शुक्लपाक्षिक कहलाते हैं और अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक संसार जिनका शेष हो, उनको कृष्णपाक्षिक कहते हैं ।^१

अतएव अर्धपुद्गल परावर्तन^२ से न्यून संसार वाले जीव अल्प होने से शुक्लपाक्षिक जीव अल्प हैं और कृष्णपाक्षिक अधिक हैं ।

कृष्णपाक्षिक जीव तथास्वभाव से दक्षिणदिशा में अधिक उत्पन्न होते हैं, परन्तु शेष तीन दिशाओं में अधिक उत्पन्न नहीं होते हैं । दक्षिण-दिशा में कृष्णपाक्षिक जीवों का अधिक संख्या में उत्पन्न होने का कारण

अर्थ—सामान्यतया सम्पूर्ण नारकों का प्रमाण घनांगुल के दूसरे वर्गमूल से गुणित जगत्-श्रेणि प्रमाण है । द्वितीयादि पृथिवियों में रहने वाले नारकों का प्रमाण क्रम से अपने वारहवें, दसवें, आठवें, छठे, तीसरे और दूसरे वर्गमूल से भक्त जगत्-श्रेणि प्रमाण समझना चाहिये तथा नीचे की छह पृथिवियों के नारकों का जितना प्रमाण हो, उसको सम्पूर्ण नारकराशि में से घटाने पर जो शेष रहे, उतना ही प्रथम पृथ्वी के नारकों का प्रमाण है ।

१ जेसिमवड्ढो पोग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो ।

ते सुक्कपक्खिया खलु अहीए पुण कण्हपक्कीआ ॥

२ ग्रंथकार आचार्य ने आगे गाथा ३७-४१ में पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाया है ।

तथास्वभाव है। उस तथास्वभाव को पूर्वाचार्यों ने युक्ति द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है—

कृष्णपाक्षिक जीव दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले कहलाते हैं। दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले अधिक पाप के उदय वाले होते हैं। क्योंकि पाप के उदय के बिना संसार में परिभ्रमण नहीं होता है। बहुत से पाप के उदय वाले क्रूरकर्मों होते हैं। क्रूरकर्मों के बिना अधिक पाप का बन्ध नहीं होता है और क्रूरकर्मों प्रायः भव्य होने पर भी तथास्वभाव—जोवस्वभाव से दक्षिणदिशा में अधिक उत्पन्न होते हैं, किन्तु शेष तीन दिशाओं में अधिक प्रमाण में उत्पन्न नहीं होते हैं। कहा भी है—

पायमिह कुरकम्मा भवसिद्धिया वि दाहिणल्लेसु ।

नेरइय-तिरिय-मणुया-सुराइठाणेसु गच्छन्ति ॥

अर्थात् कृष्णपाक्षिक जीव क्रूरकर्मों होते हैं। जिससे भव्य होने पर भी नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति आदि स्थानों में प्रायः दक्षिणदिशा में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार दक्षिणदिशा में बहुत से कृष्णपाक्षिक जीवों की उत्पत्ति सम्भव होने से पूर्व, उत्तर और पश्चिम से दक्षिणदिशा के नारक असंख्यातगुणे सम्भव हैं।

सातवीं नरकपृथ्वी की दक्षिणदिशा के नारकों से छठी तमः-प्रभा नरकपृथ्वी में पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में उत्पन्न हुए नारक असंख्यातगुणे हैं। इनके असंख्यातगुणे होने का कारण यह है कि सर्वाधिक निकृष्टतम पाप करने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य सातवीं नरकपृथ्वी में उत्पन्न होते हैं और कुछ न्यून-न्यून पाप करने वाले छठी आदि नरक पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं। सर्वाधिक पाप करने वाले सबसे अल्प होते हैं और अनुक्रम से कुछ न्यून-न्यून पाप करने वाले अधिक-अधिक होते हैं। इस हेतु से सातवीं नरकपृथ्वी के दक्षिणदिशा के नारक जीवों की अपेक्षा छठी नरकपृथ्वी में

पूर्व, उत्तर, पश्चिम दिशा के नारकों का असंख्यातगुणत्व घटित होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर नरकपृथ्वियों की अपेक्षा भी जान लेना चाहिये।

उन्हीं से उसी छठी पृथ्वी की दक्षिणदिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं। इनके असंख्यातगुणे होने के कारण को पूर्व कथनानुरूप समझना चाहिये। उनसे पांचवीं धूमप्रभापृथ्वी में पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे उसी पांचवीं नरकपृथ्वी की दक्षिणदिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे चौथी पंकप्रभापृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं, और उनसे उसी नरकपृथ्वी में दक्षिणदिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे तीसरी बालुकाप्रभापृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं, उनसे उसी नरकपृथ्वी में दक्षिणदिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे दूसरी शर्कराप्रभापृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं, उनसे उसी नरकपृथ्वी की दक्षिणदिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे पहली रत्नप्रभानरकपृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं और उनसे उसी रत्नप्रभानरकपृथ्वी में दक्षिणदिशावर्ती नारक असंख्यातगुणे हैं।^१

जिस नरक के जीव जिनसे असंख्यातगुणे होते हैं, उनके असंख्यातवें भाग वे (उस नरक के जीव) होते हैं। जैसे कि तीसरे नरक के जीवों से दूसरे नरक के जीव असंख्यातगुणे हैं, अतः तीसरे नरक के जीव दूसरे नरक के जीवों से असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। इसी से रत्नप्रभा के पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारकों के असंख्यातवें भाग शर्कराप्रभापृथ्वी के नारक हैं। जब ऐसा है, तब पहले नरक के सभी नारकों के असंख्यातवें भाग शर्कराप्रभापृथ्वी के नारक होंगे ही।

१ इससे सम्बन्धित आगमपाठ परिशिष्ट में देखिये।

इसी प्रकार अन्य अधोवर्ती नरकपृथ्वियों के लिये भी समझना चाहिये ।

गाथा के अन्त में विद्यमान 'य—च' शब्द अनुक्त अर्थ का सूचक होने से यह जानना चाहिये कि पहली रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की जो सात राजू प्रमाण घनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी असंख्याती सूचिश्रेणि प्रमाण संख्या कही गई है, उतनी ही संख्या भवनपति देवों की भी है ।

इस प्रकार से नारकों और भवनपति देवों की संख्या बतलाने के बाद अब व्यंतर देवों का प्रमाण बतलाते हैं ।

व्यंतर देवों का प्रमाण

संखेज्जजोयणाणं सूइपएसेहिं भाइओ पयरो ।

बंतरसुरेहिं हीरइ एवं एकेक्कभेए णं ॥१४॥

शब्दार्थ—संखेज्ज—संख्याता, जोयणाणं—योजनप्रमाण, सूइपएसेहिं—सूचिप्रदेशों के द्वारा, भाइओ—भाजित, पयरो—प्रतर, बंतरसुरेहिं—व्यंतर देवों के द्वारा, हीरइ—अपहृत किया जाता है, एवं—इस प्रकार, एकेक्कभेएणं—प्रत्येक व्यंतरनिकाय के लिये ।

गाथार्थ—संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेश द्वारा भाजित प्रतर व्यंतर देवों द्वारा अपहृत किया जाता है । इसी प्रकार प्रत्येक व्यंतरनिकाय के लिये समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—गाथा में व्यंतर देवों की संख्या बतलाने के लिये कहा है कि संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाशप्रदेशों द्वारा एक प्रतर के आकाशप्रदेशों को भाजित करने पर जो प्रमाण आता है, उतने व्यंतर देव हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि जैसे एक प्रतर के जितने खण्ड होते हैं, उतने व्यंतर देव हैं । अथवा दूसरे प्रकार से ऐसा भी कहा जा सकता है कि संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि जैसे प्रतर के एक-एक खण्ड को प्रत्येक व्यंतर एक साथ ग्रहण करे तो वे समस्त व्यंतर देव एक ही समय में उस सम्पूर्ण प्रतर को ग्रहण कर सकते हैं ।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यंतरनिकाय के प्रमाण के लिये भी समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि जिस तरह समस्त व्यंतर देवों का प्रमाण बतलाया है, उसी प्रकार एक-एक व्यंतरनिकाय का प्रमाण समझ लेना चाहिये । किन्तु ऐसा करने पर भी समस्त व्यंतर देवों के समूह की प्रमाणभूत संख्या के साथ विरोध नहीं आता है । क्योंकि प्रतर के आकाशप्रदेशों को भाजित करने वाले संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेश लेने का जो कहा है, वह संख्यात छोटा-बड़ा लेना चाहिये । जहाँ एक-एक व्यंतर की संख्या निकालनी हो, वहाँ तो बड़े संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाश प्रदेशों द्वारा प्रतर के आकाशप्रदेशों को विभाजित करना चाहिये, जिससे उत्तर की संख्या छोटी आये और यदि सर्वसमूह की संख्या निकालनी हो, वहाँ छोटे संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेशों द्वारा प्रतर के आकाशप्रदेश विभाजित करना चाहिये, जिससे समस्त व्यंतरों के कुल जोड़ जितनी संख्या प्राप्त हो ।^१

इस प्रकार से व्यंतर देवों का प्रमाण जानना चाहिये । अब ज्योतिष्क देवों का प्रमाण बतलाते हैं ।

ज्योतिष्क देवों का प्रमाण

छप्पन्नदोसयंगुल सूइपएसि भाइओ पयरो ।

जोइसिएंहि हीरइ सट्ठाणे त्थीय संखगुणा ॥१५॥

१ अनुयोगद्वार तथा प्रज्ञापना सूत्र में व्यंतर देवों की संख्या इस प्रकार बतलाई है—कुछ न्यून संख्याता सौ योजन सूचिश्रेणि के प्रदेशों का वर्ग करें, उसमें कुल जितने प्रदेश आयें, उतने प्रदेशप्रमाण घनीकृत लोक के एक प्रतर के जितने खंड हों, उतने कुल व्यंतर हैं ।

गोम्मटसार जीवकांड गाथा १६० में व्यंतर देवों का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

तीन सौ योजन के वर्ग का जगत्प्रतर में भाग देने से जो लब्ध आये, उतना व्यंतर देवों का प्रमाण है ।

शब्दार्थ—छप्पन्नदोसयंगुल—दो सौ छप्पन अंगुल प्रमाण, सूइपएंसि—सूचिप्रदेश द्वारा, भाइओ—भाजित, पयरो—प्रतर, जोइसिएहि—ज्योतिष्क देवों द्वारा, हीरइ—अपहृत किया जाता है, सट्टाणे—स्वस्थान में, स्थीय—स्त्रियाँ (देवियाँ), संखगुणा—संख्यातगुणी ।

गाथार्थ—दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिप्रदेश द्वारा विभाजित प्रतर ज्योतिष्क देवों द्वारा अपहृत किया जाता है । स्वस्थान में देवियाँ संख्यातगुणी हैं ।

विशेषार्थ—ज्योतिष्क देवों का प्रमाण बतलाने के लिये गाथा में कहा है कि दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाश-प्रदेशों द्वारा प्रतर के आकाशप्रदेशों को विभाजित करने पर जो प्राप्त हो, उतने ज्योतिष्क देव हैं ।^१ अथवा दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि जितने प्रतर के जितने खण्ड हों, उतने ज्योतिष्क देव हैं । अथवा दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि जैसे एक-एक खण्ड को एक साथ समस्त ज्योतिष्क देव अपहृत करें तो एक ही समय में वे समस्त देव सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करते हैं । इन तीनों का तात्पर्य एक ही है तथा चारों देवनिकाय में अपने-अपने निकाय के देवों की अपेक्षा देवियाँ संख्यातगुणी हैं । इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ।

१ यहाँ बताई गई ज्योतिष्क देवों की संख्या से अनुयोगद्वार और प्रज्ञापना सूत्र में बताई गई संख्या भिन्न है । वहाँ कहा है—दो सौ छप्पन अंगुल प्रमाण सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश हों, उनका वर्ग करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उतने प्रदेशप्रमाण घनीकृत लोक के एक प्रतर के जितने खंड हों, उतने कुल ज्योतिष्क देव हैं ।

गोम्मटसार जीवकांड गाथा १६० में ज्योतिष्क देवों का प्रमाण यह बताया है—

दो सौ छप्पन प्रमाणांगुलों के वर्ग का जगत्प्रतर में भाग देने से जो लब्ध आये, उतना ज्योतिष्क देवों का प्रमाण है ।

अब तीन देवनिकायों से शेष रहे वैमानिक देवों का प्रमाण बतलाते हैं ।

वैमानिक देवों का प्रमाण

असंखसेढिखपएसतुल्लया पढमदुइयकप्पेसु ।

सेढि असंखंससमा उवरिं तु जहोत्तरं तह य ॥१६॥

शब्दार्थ—असंखसेढिखपएसतुल्लया—असंख्यात श्रेणि के आकाशप्रदेश तुल्य, पढमदुइय—प्रथम और द्वितीय, कप्पेसु—कल्पों के, सेढि—श्रेणि, असंखंससमा—असंख्यातवें भागप्रमाण, उवरिं—ऊपर के, तु—और, जहोत्तरं—यथोत्तर के क्रम से, तह—तथाप्रकार से, वैसे-वैसे, पूर्व-पूर्व से, य—और ।

गाथार्थ असंख्याती श्रेणि के आकाशप्रदेश तुल्य प्रथम और द्वितीय कल्प (देवलोक) के देव हैं तथा यथोत्तर के क्रम से ऊपर के देवलोक के देव पूर्व-पूर्व से श्रेणि के असंख्यातवें भाग-प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में पहले और दूसरे कल्प के वैमानिक देवों का प्रमाण तो निश्चित रूप में बतलाया है और शेष उत्तरवर्ती देवों के प्रमाण के लिये सामान्य संकेत कर दिया है कि पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती वैमानिक देव श्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

घनीकृत लोक की सात राजूप्रमाण लम्बी और एक प्रदेश मोटी—चौड़ी असंख्याती सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने पहले और दूसरे—सौधर्म और ईशान देवलोक में देव हैं तथा ऊपर के सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतक, महाशुक्र और सहस्रार, इनमें से

१ गोम्मटसार जीवकांड गाथा १६१ में सौधर्मद्विक—सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

जगत्-श्रेणि के साथ घनांगुल के तृतीय वर्गमूल का गुणा करने पर सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों का प्रमाण प्राप्त होता है ।

प्रत्येक देवलोक में सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में विद्यमान आकाश-प्रदेश प्रमाण देव हैं ।

परन्तु यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि उत्तरोत्तर सूचिश्रेणि का असंख्यातवाँ भाग अनुक्रम से हीन-हीन लेने से उपरि-उपरिवर्ती देवलोक के देव पूर्व-पूर्ववर्ती देवलोक के देवों की अपेक्षा असंख्यातवें भाग हैं ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सनत्कुमारकल्प के जितने देव हैं, उसकी अपेक्षा माहेन्द्रकल्प में देव असंख्यातवें भाग हैं और माहेन्द्र देवलोक के देवों से सनत्कुमार के देव असंख्यातगुणे हैं । माहेन्द्र देवलोक के देवों की अपेक्षा ब्रह्म देवलोक के देव असंख्यातवें भाग हैं । इसी तरह उत्तरोत्तर लांतक, महाशुक्र और सहस्रार देवलोक के देवों के लिये भी जान लेना चाहिये । इसके अलावा—

गाथा के अन्त में 'तह य' पद में आगत 'य—च' शब्द अनुक्त वस्तु का समुच्चय करने वाला होने से आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोक में तथा अधः, मध्यम और उपरितन तीन-तीन ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानों में से प्रत्येक में क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भागवर्ती आकाशप्रदेश प्रमाण देव जानना चाहिए । किन्तु इतना विशेष है कि पूर्व-पूर्व देवों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के देव संख्यातगुणहीन हैं ।^१

१ (अ) देवों आदि में हीनाधिकतादर्शक प्रज्ञापनासूत्रगत महादंडक का पाठ परिशिष्ट में देखिये ।

(आ) गोम्मटसार जीवकांड, गाथा १६१, १६२, १६३ में वैमानिक देवों की संख्या इस प्रकार बतलाई है ।

जगत्-श्रेणि के साथ घनांगुल के तृतीय वर्गमूल का गुणा करने पर सौधर्मद्विक के देवों का प्रमाण प्राप्त होता है तथा इसके आगे जगत्-श्रेणि के ग्यारहवें, नौवें, सातवें, पांचवें, चौथे वर्गमूल से भाजित जगत्-श्रेणि प्रमाण तीसरे कल्प से लेकर बारहवें कल्प तक देवों का प्रमाण है ।

(क्रमशः)

इस प्रकार से वैमानिक देवों का प्रमाण जानना चाहिये । अब पहले जो सामान्य से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की तथा भवनपति और सौधर्म देवलोक के देवों की संख्या असंख्यात सूचि श्रेणि प्रमाण बताई है, उसमें असंख्यात का प्रमाण नहीं कहा है, जिससे यह समझ में नहीं आता कि इन तीनों में कौन कम और कौन अधिक है । इसलिये यहाँ तीनों की असंख्यातरूप संख्या का निर्णय करने के लिये कहते हैं—

सेढीएक्केक्कपएसरइय - सूईणमंगुलप्पमियं ।

घम्माए भवणसोहम्मयाणमाणं इमं होइ ॥१७॥

छप्पन्नदोसयंगुल भूओ भूओ विगब्भ मूलतिगं ।

गुणिया जहुत्तरत्था रासीओ कमेण सूइओ ॥१८॥

शब्दार्थ—सेढीएक्केक्कपएसरइय—श्रेणि के एक-एक आकाशप्रदेश द्वारा रचित, सूईणमंगुलप्पमियं—सूचि के अंगुलप्रमाण, घम्माए—घर्मा का, भवणसोहम्मयाण—भवनपति और सौधर्मकल्प का, माणं—प्रमाण, इमं—यह, होइ—होता है ।

छप्पन्नदोसयंगुल—अंगुलमात्र क्षेत्र के दो सौ छप्पन प्रदेशों का, भूओ-भूओ—बारम्बार, विगब्भ—वर्गमूल लेकर, मूलतिगं—तीन मूल, गुणिया—गुणाकार करने पर, जहुत्तरत्था—यथाक्रम से उत्तर में स्थित, रासीओ—राशियाँ, कमेण—क्रम से, सूइओ—सूचिश्रेणियाँ ।

आनतादि में देवों का प्रमाण पत्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । अर्थात् आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, इन छब्बीस कल्पों में से प्रत्येक के देवों का प्रमाण पत्य के असंख्यातवें भाग है ।

यह प्रमाण सामान्यतः जानना चाहिये, किन्तु विशेषरूप में उत्तरोत्तर आरणादि में संख्यात गुणा-संख्यातगुणाहीन है ।

मानुषियों के प्रमाण से तिगुना या सतगुना सर्वार्थसिद्धि के देवों का प्रमाण है ।

गाथार्थ—श्रेणि के एक-एक आकाशप्रदेश द्वारा रचित सूचि के अंगुलप्रमाण क्षेत्र में से प्राप्त राशि घर्मा, भवनपति और सौधर्म देवलोक के जीवों का प्रमाण होता है ।

(असत्कल्पना से) अंगुलमात्र क्षेत्रवर्ती दो सौ छप्पन आकाश-प्रदेशों का बारम्बार वर्गमूल निकाल तीन मूल लेकर यथाक्रम से उत्तर-उत्तर में स्थित राशियों का पूर्व-पूर्व राशि से गुणाकार करने पर क्रम से प्राप्त संख्या के बराबर उतनी-उतनी सूचिश्रेणि प्रमाण घर्मा (रत्नप्रभा) पृथ्वी के नारकों, भवनपति और सौधर्म-कल्प के देवों का प्रमाण है ।

विशेषार्थ—पहली नरकपृथ्वी के नारकों तथा भवनपति और सौधर्मकल्प के देवों के प्रमाण का निर्णय करने के लिये पहले जितनी श्रेणियाँ कही हैं उतने श्रेणि-व्यतिरिक्त आकाशप्रदेशों को ग्रहण करके उनकी सूचिश्रेणि करना और उनमें से सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाश-प्रदेशों का वर्गमूल निकालने की पद्धति से मूल निकालकर उसमें से तीन मूल लेकर उन्हें तथा अंगुलमात्र सूचिश्रेणि के प्रदेशों की संख्या को अनुक्रम से स्थापित करने के बाद अंगुलमात्र सूचिश्रेणि की प्रदेश-संख्या का मूल के साथ गुणा करने पर आकाशप्रदेश की जितनी संख्या आये, उतनी संख्याप्रमाण समस्त सूचिश्रेणि के जितने आकाश-प्रदेश हों, उतनी रत्नप्रभापृथ्वी के नारक जीवों की संख्या है ।

पहले और दूसरे मूल का गुणाकार करने पर जितने आकाशप्रदेश आयें, उतनी समस्त सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण भवनपति देवों की संख्या का प्रमाण है तथा दूसरे और तीसरे मूल का गुणाकार करने पर जितने आकाशप्रदेश प्राप्त हों, उतनी समस्त सूचिश्रेणिप्रमाण सौधर्मकल्प के देवों का प्रमाण है ।

यद्यपि अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि में असंख्यात आकाशप्रदेश होते हैं, लेकिन असत्कल्पना से दो सौ छप्पन मान लिये जायें। उनका वर्गमूल निकालने की रीति से तीन बार मूल निकालना । दो सौ छप्पन

का पहला मूल सोलह, दूसरा मूल चार और तीसरा मूल दो है। अब इन तीनों मूल और दो सौ छप्पन इन चारों राशियों को बड़ी-छोटी संख्या के क्रम से इस प्रकार रखें—२५६, १६, ४, २ और उसके बाद पूर्व से उत्तर की एक-एक राशि के साथ गुणाकार करें। जैसे कि दो सौ छप्पन को पहले मूल सोलह के साथ गुणा करने पर $256 \times 16 = 4096$ (चार हजार छियानवें) होते हैं। इतनी रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की संख्या के लिये श्रेणियाँ समझना चाहिये। अर्थात् चार हजार छियानवें सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश हों, उतने ही रत्नप्रभापृथ्वी के नारक हैं।

दूसरे वर्गमूल चार के साथ पहले मूल सोलह का गुणाकार करना और गुणा करने पर $16 \times 4 = 64$ (चोंसठ) आये। इतनी सूचिश्रेणियों में रहे हुए आकाशप्रदेश भवनपति देवों का प्रमाण है।^१

तीसरे मूल दो के साथ दूसरे मूल चार का गुणा करने पर $4 \times 2 = 8$ (आठ) आये। उतनी सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाशप्रदेश-प्रमाण सौधर्म देवलोक के देव हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि कौन किस से अधिक और कौन किससे कम हैं।

अब दूसरे प्रकार से भी रत्नप्रभा के नारकादि के विषय में श्रेणि का प्रमाण बतलाते हैं—

अहवंगुलप्पएसा समूलगुणिया उ नेरइयसूई।

पढमदुइयापयाइं समूलगुणियाइं इयरारणं ॥१६॥

शब्दार्थ—अहव—अथवा, अंगुलप्पएसा—अंगुण प्रमाण क्षेत्रवर्ती प्रदेशों का, समूलगुणिया—अपने मूल के साथ गुणा करने पर, उ—और, नेरइयसूई—नारकों की सूचिश्रेणि, पढम-दुइयापयाइं—प्रथम और द्वितीय पद का, समूल-

१ नारकों और भवनपति देवों की संख्या के लिये अनुयोगद्वारा सूत्र आदि ग्रंथों के निर्देश को परिशिष्ट में देखिये।

गुणियाङ्—अपने-अपने मूल से गुणा करने पर, द्वयराणं—दूसरों के (भवनपति, सौधर्म कल्प के देवों के) ।

गाथार्थ—अथवा अंगुलप्रमाण क्षेत्रवर्ती प्रदेशों का अपने-अपने मूल के साथ गुणा करने पर रत्नप्रभा के नारकों की सूचिश्रेणि का प्रमाण प्राप्त होता है और प्रथम एवं द्वितीय पद का अपने-अपने मूल से गुणा करने पर प्राप्त सूचिश्रेणियाँ क्रमशः दूसरों—भवनपति और सौधर्मकल्प के देवों—के प्रमाणरूप में समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—यद्यपि पूर्व की गाथा में रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों, भवनपति और सौधर्मकल्प के देवों के प्रमाण को जानने के सूत्र का उल्लेख कर दिया है । लेकिन इस गाथा में पुनः उन-उन के प्रमाण को जानने की दूसरी विधि का उल्लेख किया है ।

पूर्व की गाथा में अंगुलमात्र क्षेत्रवर्ती प्रदेशराशि की दो सौ छप्पन की कल्पना की थी । किन्तु यहाँ उस प्रकार नहीं करके वास्तव में जितनी संख्या होती है, उतनी की विवक्षा की है । वह इस प्रकार समझना चाहिये—एक अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाश-प्रदेशों का अपने मूल के साथ गुणाकार करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उतनी सूचिश्रेणियों में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण रत्नप्रभापृथ्वी के नारक हैं ।

अंगुलप्रमाण क्षेत्र में रहे हुए आकाशप्रदेश के पहले मूल का अपने मूल के साथ गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उतनी सूचिश्रेणियाँ भवनपति देवों का प्रमाण निर्णय करने के लिये जानना चाहिये । अर्थात् इतनी सूचिश्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश हों, उतने भवनपति देव जानना चाहिये ।

अंगुलप्रमाण क्षेत्र में रहे हुए आकाशप्रदेशों के दूसरे मूल का अपने मूल के साथ गुणा करने पर जो प्रदेशराशि प्राप्त हो, उतनी सूचिश्रेणियों में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण सौधर्म देवलोक के देव हैं ।

इस प्रकार से नारक और देवों का प्रमाण बतलाने के बाद उत्तर-वैक्रियशरीर वाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण बतलाते हैं ।

उत्तरवैक्रियशरीरी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का प्रमाण

अंगुलमूलासंखियभागप्पमिया उ होंति सेढीओ ।

उत्तरविउव्वियाणं तिरियाण य सन्निपज्जाणं ॥२०॥

शब्दार्थ—अंगुलमूलासंखियभागप्पमिया—अंगुलमात्र आकाशप्रदेश के मूल के असंख्यातवें भागगत प्रदेशराशि प्रमाण, होंति—हैं, सेढीओ—श्रेणियाँ, उत्तरविउव्वियाणं—उत्तरवैक्रियशरीर वाले, तिरियाण—तिर्यंचों की, य—और, सन्निपज्जाणं—संज्ञि पर्याप्तकों की ।

गाथार्थ—अंगुलमात्र आकाशप्रदेश के मूल के असंख्यातवें भागगत प्रदेशराशि प्रमाण सूचिश्रेणियाँ उत्तरवैक्रियशरीर वाले संज्ञी पर्याप्त तिर्यंचों की संख्या है ।

विशेषार्थ—एक अंगुल प्रमाण क्षेत्रवर्ती आकाशप्रदेश का जो प्रथम वर्गमूल उसके असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हों, उतनी उत्तरवैक्रियलब्धिसम्पन्न पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की संख्या जानना चाहिये ।^१

उत्तरवैक्रियशरीर-लब्धिसम्पन्न पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच असंख्यात द्वीप-समुद्रों में रहने वाले मत्स्य और हंस आदि जीव जानना चाहिये ।

इस प्रकार से तीन गति के संज्ञी जीवों की संख्या बतलाने के बाद अब मनुष्यों का प्रमाण बतलाते हैं ।

मनुष्यों का प्रमाण

उक्कोसपए मणुया सेढी रुवाहिया अवहरंति ।

तइयमूलाहएहि अंगुलमूलप्पएसेहि ॥२१॥

शब्दार्थ—उक्कोसपए—उत्कृष्टपद में, मणुया—मनुष्य, सेढी—श्रेणि, रुवाहिया—एक रूपाधिक, अवहरंति—अपहार हो सकता है, तइयमूलाहएहि—

१ एतद्विषयक प्रज्ञापनासूत्र का पाठ परिशिष्ट में देखिये ।

तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणित, अंगुलमूलप्पएसेहि—अंगुलप्रमाण क्षेत्र के प्रदेशों के पहले मूल के प्रदेशों से ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट पद में मनुष्य तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणित अंगुलप्रमाण क्षेत्र में विद्यमान प्रदेशों के पहले मूल के प्रदेशों से एक रूप अधिक हों तो सम्पूर्ण सूचिश्रेणि का अपहार हो सकता है ।

विशेषार्थ—यहाँ उत्कृष्टपद में मनुष्यों का प्रमाण बतलाया है । मनुष्य दो प्रकार के हैं—१ गर्भज, २ संसृच्छिम । अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले संसृच्छिम तो अपर्याप्त-अवस्था में ही मरण को प्राप्त होते हैं तथा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से गर्भज दो प्रकार के हैं । गर्भज पर्याप्त मनुष्य, ध्रुव होने से सदैव होते हैं एवं वे संख्यात ही हैं । उनकी जघन्य संख्या भी पांचवें और छठे वर्ग का गुणाकार करने पर प्राप्त राशिप्रमाण हैं ।

प्रश्न—वर्ग किसे कहते हैं ? पांचवें और छठे वर्ग का स्वरूप क्या है और पांचवें और छठे वर्ग का गुणाकार करने पर प्राप्त संख्या कितनी होती है ?

उत्तर—किसी एक विवक्षित राशि का विवक्षित राशि के साथ गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण को वर्ग कहते हैं । एक का एक से गुणा करने पर भी वृद्धिरहित होने से उसे वर्ग में नहीं गिना जाता है । वर्ग का प्रारम्भ दो की संख्या से होता है । इसलिये दो को दो से गुणा करने पर दो का वर्ग चार होता है, यह पहला वर्ग है । चार का वर्ग $४ \times ४ = १६$ (सोलह), यह दूसरा वर्ग, सोलह का वर्ग $१६ \times १६ = २५६$ (दो सौ छप्पन), यह तीसरा वर्ग, दो सौ छप्पन का वर्ग $२५६ \times २५६ = ६५५३६$ (पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस), यह चौथा वर्ग, पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस का वर्ग $६५५३६ \times ६५५३६ = ४२६४६७२६६$ (चार अरब उनतीस करोड़ उनचास लाख, सड़सठ हजार दो सौ छियानवै) यह पांचवाँ वर्ग और इस पांचवें वर्ग की

संख्या से उसी संख्या का गुणा करने पर एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोडाकोड, चवालीस लाख सात हजार तीन सौ सत्तर करोड़ पंचानव लाख, इक्यावन हजार, छह सौ सोलह (१८४४६७४४०७३७६५५१६१६) होता है, यह छठा वर्ग है ।

इन छह वर्गों में से छठे वर्ग का पांचवें वर्ग के साथ गुणाकार करने पर जितनी प्रदेशराशि हो, उतने जघन्य से गर्भज पर्याप्त मनुष्य होते हैं ।

पांचवें और छठे वर्ग के गुणाकार के उनतीस अंक होते हैं ।^१ जो इस प्रकार हैं—७६२२८१६२५१४२६४३३७५६३५४३६५०३३६ ।

१ गर्भज मनुष्यों की संख्या के द्योतक ये उनतीस अंक अक्षरों के संकेत द्वारा गोम्मटसार जीवकांड, गाथा १५८ में इस प्रकार बतलाये हैं—

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचारभयमेरु ।

तटहरिखज्ञसा ह्योति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ॥

अर्थात् तकार से लेकर सकार पर्यन्त अक्षर प्रमाण अंक पर्याप्त मनुष्यों की संख्या है ।

किस अक्षर से कौनसा अंक ग्रहण करना चाहिये, इसके लिये निम्न-लिखित गाथा उपयोगी है—

कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टकः क्रमशः ।

स्वरवनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ॥

अर्थात् क से लेकर झ तक के नौ अक्षरों से क्रमशः एक, दो, तीन आदि तक के नौ अंक समझना चाहिये । इसी प्रकार ट से लेकर नौ अंक, प से लेकर पांच अंक, य से लेकर आठ अक्षरों से आठ अंक तथा स्वर, व, न से शून्य समझना चाहिये । मात्रा और उपरिम अक्षर से कोई भी अंक ग्रहण नहीं करना चाहिये । अतः इस नियम और 'अंकों की विपरीत गति होती है' नियम के अनुसार गाथा में कहे हुए अक्षरों से पर्याप्त मनुष्यों की संख्या ७६२२८१६२५१४२६४३३७५६३५४३६५०३३६ निकलती है ।

पूर्वाचार्यों ने इस संख्या को तीसरे यमलपद से ऊपर की और चौथे यमलपद से नीचे की संख्या कहा है।^१

मनुष्यप्रमाण की हेतुभूत राशि को तीसरे यमल पद से ऊपर की कहने में कारण पांचवें और छठे वर्ग का गुणाकार है। पांचवाँ और छठा वर्ग तीसरे यमल में तथा सातवाँ और आठवाँ वर्ग चौथे यमल में आता है। मनुष्यप्रमाण की हेतुभूत संख्या छठे वर्ग से अधिक है। क्योंकि वह संख्या छठे और पांचवें वर्ग के गुणाकार जितनी है, जो सातवें वर्ग से कम है। इसीलिये मनुष्यसंख्या की प्रमाणभूत राशि को तीसरे यमलपद से अधिक और चौथे यमलपद से कम कहा है।

अथवा पूर्वोक्त राशि के छियानवें छेदनक होते हैं। छेदनक यानि आधा-आधा करना। अर्थात् उनतीस अंकप्रमाण राशि को पहली बार आधा करें, दूसरी बार उसका आधा करें, तीसरी बार उसका आधा करें। इस प्रकार आधा-आधा छियानवें बार करें तो छियानवैवीं बार में एक का अंक आयेगा और इसी को इसके विपरीत रीति से कहें तो छियानवें बार स्थान को दुगुना करें, जैसे कि एक और एक दो, दो और दो चार, चार और चार आठ, इस तरह छियानवें बार दुगुना-दुगुना करने पर छियानवैवीं बार में उपर्युक्त राशि प्राप्त होती है।

प्रश्न—यहाँ छियानवें छेदनक क्यों होते हैं ?

उत्तर—पहले वर्ग के दो छेदनक होते हैं—पहला छेदनक दो और दूसरा छेदनक एक। दूसरे वर्ग के चार छेदनक होते हैं। अर्थात् दूसरे वर्ग की संख्या के आधे-आधे भाग चार बार होते हैं। जैसे कि पहला छेदनक आठ, दूसरा छेदनक चार, तीसरा छेदनक दो और चौथा छेदनक एक। इसी रीति से तीसरे वर्ग के आठ छेदनक, चौथे वर्ग के

१ दोवित्तिवग्गा जमलपयति भन्नइ—दो-दो वर्ग के समूह को यमलपद कहते हैं।
—अनुयोगद्वारचूर्णि

सोलह छेदनक, पांचवें वर्ग के बत्तीस छेदनक और छठे वर्ग के चौंसठ छेदनक होते हैं। गर्भज मनुष्यों की संख्या पांचवे और छठे वर्ग के गुणाकार जितनी होने से उस संख्या में पांचवें और छठे इन दोनों वर्गों के छेदनक आते हैं। पांचवें वर्ग के बत्तीस और छठे वर्ग के चौंसठ छेदनक होने से दोनों का जोड़ करने पर छियानव छेदनक पूर्वोक्त राशि में होते हैं।

प्रश्न—यह कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर—जिस-जिस वर्ग का जिस-जिस वर्ग के साथ गुणाकार करें और गुणाकार करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उसमें दोनों वर्ग के छेदनक घटित होते हैं। जैसे कि पहले वर्ग को दूसरे वर्ग के साथ गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उसमें पहले वर्ग के दो और दूसरे के चार कुल छह छेदनक संभव हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

पहले और दूसरे वर्ग का गुणाकार चौंसठ होता है। उनका पहला छेदनक बत्तीस, दूसरा सोलह, तीसरा आठ, चौथा चार, पांचवां दो और छठा एक, इस तरह छह छेदनक होते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिये। जिससे पांचवें और छठे वर्ग के गुणाकार में पांचवें वर्ग के बत्तीस और छठे वर्ग के चौंसठ, दोनों मिलकर छियानव छेदनक होते हैं^१।

गर्भज और समूच्छिम अपर्याप्त जीव किसी समय होते हैं और

- १ पर्याप्त मनुष्यों की उक्त जघन्य संख्यासम्बन्धी समग्र कथन का सारांश यह है कि पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से गर्भज मनुष्य दो प्रकार के हैं। उनमें से अपर्याप्त मनुष्य तो कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं। इसलिये जब वे न हों तब भी जघन्य से पर्याप्त गर्भज मनुष्य पांचवें और छठे वर्ग के गुणाकार करने से प्राप्त संख्याप्रमाण अर्थात् २६ अंकप्रमाण हैं। अथवा तीसरे यमलपद से ऊपर और चौथे यमलपद से नीचे की संख्याप्रमाण हैं। अथवा एक की संख्या को अनुक्रम से छियानव बार द्विगुण-द्विगुण करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उतने हैं। —सम्पादक

किसी समय नहीं भी होते हैं। क्योंकि गर्भज अपर्याप्त का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त अन्तर है और संमूर्च्छिम अपर्याप्त का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त अन्तर है। अपर्याप्त अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले होते हैं, जिससे अन्तर्मुहूर्त के बाद सभी निःशेष हो जाते हैं—नाश को प्राप्त होते हैं। यानि कुछ अधिक ग्यारह मुहूर्त गर्भज अपर्याप्त और कुछ अधिक तेईस मुहूर्त संमूर्च्छिम अपर्याप्त नहीं होते हैं। इसीलिये कहा है कि गर्भज अपर्याप्त मनुष्य और संमूर्च्छिम मनुष्य किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते हैं।

लेकिन जब गर्भज पर्याप्त, अपर्याप्त और संमूर्च्छिम अपर्याप्त, ये सब मिलकर अधिक-से-अधिक हों, तब उनका प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिये—उत्कृष्ट पद में गर्भज और संमूर्च्छिम मनुष्यों की सर्वोत्कृष्ट संख्या हो तब जितनी संख्या हो उससे (वास्तविक नहीं, लेकिन असत्कल्पना से) एक मनुष्य अधिक हो तो सूचिश्रेणि के एक अंगुल-प्रमाण क्षेत्र में रहे हुए आकाशप्रदेश के पहले मूल को तीसरे मूल के साथ गुणा करने पर जितने आकाशप्रदेश प्राप्त हों, उतने आकाश-प्रदेशों द्वारा भाग देने पर (असत्कल्पना से सूचिश्रेणि के एक अंगुल-क्षेत्र के दो सौ छप्पन आकाशप्रदेश कल्पना करें, तो उनका पहला मूल सोलह, दूसरा मूल चार और तीसरा मूल दो। पहले मूल को तीसरे मूल से गुणा करने पर बत्तीस आते हैं, उतने आकाश प्रदेश द्वारा भाग देने पर) सम्पूर्ण एक सूचिश्रेणि का अपहार होता है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि सूचिश्रेणि के अंगुलमात्र क्षेत्र में जितने आकाशप्रदेश हैं, उनके पहले वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणा करने पर जितने आकाशप्रदेश हों, उतने-उतने प्रमाण वाले एक-एक खण्ड को पर्याप्त, अपर्याप्त गर्भज और संमूर्च्छिम एक-एक मनुष्य ग्रहण करें और कुल मनुष्यों की जो संख्या है, उससे एक अधिक हो तो सम्पूर्ण श्रेणि को एक ही समय में अपहार किया जा सकता है। परन्तु एक मनुष्य कम है, जिससे एक खण्ड बढ़ता है।

इसी बात को दूसरे प्रकार से इस तरह कहा जा सकता है कि

सूचिश्रेणि के अंगुलमात्र क्षेत्र में विद्यमान आकाशप्रदेश के पहले वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल के साथ गुणा करने पर जितने आकाश-प्रदेश आयें, उतने आकाशप्रदेशों के द्वारा समस्त सूचिश्रेणि के आकाश-प्रदेशों को भाजित करने पर जो संख्या प्राप्त हो उसमें से एक रूप कम करने पर संमूर्च्छिम और गर्भज मनुष्यों की सर्वोत्कृष्ट संख्या प्राप्त होती है ।^१

इस प्रकार से अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियादि चौदह जीवभेदों का प्रमाण जानना चाहिये । अब गुणस्थान की अपेक्षा चौदह जीवभेदों का प्रमाण बतलाते हैं ।

गुणस्थानापेक्षा जीवों का प्रमाण

सासायणाइचउरो होंति असंखा अणंतया मिच्छा ।

कोडिसहस्रपुहुत्तं पमत्तइयरे उ थोवयरा ॥२२॥

शब्दार्थ—सासायणाइ—सासादनसम्यग्दृष्टि आदि, चउरो—चार गुण-स्थान वाले, होंति—होते हैं, असंखा—असंख्यात, अणंतया—अनन्त, मिच्छा—मिथ्यादृष्टि, कोडिसहस्रपुहुत्तं—कोटिसहस्रपृथक्त्व, पमत्ते—प्रमत्तसंयत, इयरे—इतर—अप्रमत्तसंयत, उ—और, थोवयरा—स्तोकतर—उनसे अल्प ।

गाथार्थ—सासादनादि चार गुणस्थान वाले जीव असंख्यात हैं और मिथ्यादृष्टि अनन्त हैं । प्रमत्तसंयत जीव कोटिसहस्र-पृथक्त्व और इतर अर्थात् अप्रमत्तसंयत जीव उनसे अल्प—स्तोकतर हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त—आदि के सात गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाया है ।

‘सासायणाइचउरो असंखा’ अर्थात् सासादनसम्यग्दृष्टि, मिथ्र-दृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत—इन दूसरे से लेकर पांचवें

१ एतद्विषयक अनुयोगद्वारचूर्णि का पाठ परिशिष्ट में देखिये ।

तक चार गुणस्थानों में से प्रत्येक में वर्तमान जीव असंख्यात-असंख्यात हैं। क्योंकि इन गुणस्थानवर्ती जीव अधिक-से-अधिक क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में विद्यमान प्रदेशराशि प्रमाण हैं तथा मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं—‘अणंतया मिच्छा’। क्योंकि वे अनन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं।

इस प्रकार से आदि के पांच गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाने के बाद गाथा के उत्तरार्ध में छठे, सातवें—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाते हैं कि—

प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य से भी कोटिसहस्रपृथक्त्व-प्रमाण और उत्कृष्ट से भी कोटिसहस्रपृथक्त्वप्रमाण^१ जानने चाहिये—‘कोडिसहस्रपुहुत्तं पमत्त’ तथा अप्रमत्तसंयत मुनि प्रमत्तसंयत से अत्यल्प हैं। सारांश यह हुआ कि पन्द्रह कर्मभूमि में प्रमत्तसंयत मुनि जघन्य से दो हजार करोड़ से अधिक होते हैं और उत्कृष्ट से नौ हजार करोड़ होते हैं तथा अप्रमत्तसंयत मुनि प्रमत्तसंयत से अत्यन्त अल्प हैं।

इस प्रकार से प्रथम सात गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाने के बाद अब दो गाथाओं द्वारा शेष आठवें से लेकर चौदहवें तक सात गुणस्थानों में से प्रत्येक में विद्यमान जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाते हैं—

एगाइ चउपण्णा समगं उवसामगा य उवसंता ।

अद्ध पडुच्च सेढीए होंति सव्वेवि संखेज्जा ॥२३॥

खवगा खीणाजोगी एगाइ जाव होंति अट्ठसयं ।

अद्धाए सयपुहुत्तं कोडिपुहुत्तं सजोगीओ ॥२४॥

शब्दार्थ—एगाइ—एक से लेकर, चउपण्णा—चउवन, समगं—एक साथ,

१ इह पृथक्त्वं द्विप्रभृत्यानवभ्यः इति सामयिकी संज्ञा ।

दो से नौ तक की संख्या को पृथक्त्व कहते हैं, यह समय (जैन-सिद्धान्त) का पारिभाषिक शब्द है। —पंचसंग्रह मलयगिरिटीका, पृ. ६१

उवसामगा—उपशमक, **य**—और, **उवसंता**—उपशान्तमोही, **अद्धं पडुच्च**—काल की अपेक्षा, **सेढीए**—श्रेणि के, **होति**—होते हैं, **सव्वेवि**—सभी, **संखेज्जा**—संख्यात ।

खवगा—क्षपक, **खीणाजोगी**—क्षीणमोही और अयोगि, **एगाइ**—एक से लेकर, **जाव**—यावत्—तक, **होति**—होते हैं, **अट्टसयं**—एक सौ आठ, **अट्टाए**—काल में, **सयपुहुत्तं**—शतपृथक्त्व, **कोट्टिपुहुत्तं**—कोटिपृथक्त्व, **सजोगीओ**—सयोगिकेवली ।

गाथार्थ—उपशमक और उपशान्तमोही जीव एक साथ एक से लेकर चउवन पर्यन्त होते हैं और श्रेणि के काल की अपेक्षा संख्यात होते हैं ।

क्षपक, क्षीणमोही और अयोगि, एक से लेकर यावत् एक सौ आठ होते हैं और सम्पूर्ण श्रेणि के काल में शतपृथक्त्व होते हैं तथा सयोगिकेवली कोटिपृथक्त्व होते हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में आठवें से लेकर चौदहवें तक सात गुणस्थानों में विद्यमान जीवों का संख्याप्रमाण बतलाया है कि एक समय में कितने जीव उन-उन गुणस्थान में प्राप्त हो सकते हैं । लेकिन इन गुणस्थानों में आठवें से दसवें तक तीन गुणस्थानों की विशेष स्थिति है । ये तीनों गुणस्थान उपशमश्रेणि मांडने वाले जीवों में भी पाये जाते हैं और क्षपकश्रेणि मांडने वालों में भी प्राप्त होते हैं । अतएव इस प्रकार श्रेणि के भेद से इन तीनों गुणस्थानवर्ती जीवों का पृथक्-पृथक् निर्देश करके शेष ग्यारहवें से चौदहवें तक के चार गुणस्थानों के जीवों की संख्या बतलाई है ।

सबसे पहले उपशमश्रेणिवर्ती गुणस्थानों के जीवों की संख्या बतलाते हैं कि उपशमक यानि उपशमक्रिया को करने वाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानवर्ती जीव और उपशान्तमोह अर्थात् जिन्होंने मोह को सर्वथा शान्त किया है, ऐसे ग्यारहवें उपशान्तमोहगुणस्थानवर्ती जीव एक समय में एक साथ एक से लेकर चउवन तक हो सकते हैं । कारण सहित जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपशमक और उपशांतमोही ये दोनों प्रकार के जीव उपशमश्रेणि में अन्तर पड़ने के कारण^१ किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते हैं। जिससे उपशमक आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानवर्ती तथा उपशांत—उपशांतमोहगुणस्थानवर्ती जीव जब होते हैं, तब जघन्य से एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चउवन होते हैं—‘एगाइ चउप्पणा’। यह प्रमाण प्रवेश करने वालों की अपेक्षा जानना चाहिये, यानि इतने जीव एक समय में एक साथ उपशमश्रेणि सम्बन्धी अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में प्रवेश करते हैं। किन्तु उपशमश्रेणि के सम्पूर्ण काल की अपेक्षा विचार करें तो कुल मिलाकर भी संख्यात जीव ही होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उपशमश्रेणि का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस समस्त काल के उत्तरोत्तर समयों में अन्य-अन्य जीव भी यदि प्रवेश करें तो कुल मिलाकर वे सभी जीव संख्यात ही होंगे।

प्रश्न—उपशमश्रेणि के अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल के असंख्यात समय होते हैं और उस काल के एक-एक समय में एक-एक जीव भी प्रवेश करे, तब भी श्रेणि के सम्पूर्ण काल में असंख्यात जीव सम्भव हैं, तो फिर दो-तीन से लेकर उत्कृष्टतः चउवन तक की संख्या प्रवेश करे तो असंख्यात जीव क्यों नहीं होंगे? होंगे ही। तब ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि उपशम श्रेणि के समस्त काल की अपेक्षा भी संख्यात जीव होते हैं?

उत्तर—उक्त प्रश्न और कल्पना संगत नहीं है। क्योंकि उक्त कल्पना तभी की जा सकती है, जब श्रेणि के अन्तर्मुहूर्त काल में प्रत्येक समय जीव प्रवेश करते ही हों। परन्तु प्रत्येक समय तो जीव प्रवेश करते नहीं हैं, कुछ एक समयों में करते हैं, जिससे उक्त संख्या घटित होती है।

प्रश्न—अन्तर्मुहूर्तप्रमाण श्रेणि के काल के कुछ एक समयों में ही

१ अंतर का उल्लेख आगे अंतर-प्ररूपणा के प्रसंग में स्पष्ट किया जायेगा।

जीव प्रवेश करते हैं, परन्तु सभी समयों में प्रवेश नहीं करते हैं, यह कैसे जाना जाये ?

उत्तर—उपशमश्रेणि में पर्याप्त गर्भज मनुष्य ही प्रवेश कर सकते हैं, अन्य जीव नहीं। प्रवेश करने वाले मनुष्यों में भी चारित्रसम्पन्न आत्मायें ही प्रवेश करती हैं और चारित्रसम्पन्न आत्मायें अधिक-से-अधिक दो हजार करोड़ से लेकर नौ हजार करोड़ ही होती हैं। उनमें भी सभी श्रेणि पर आरोहण नहीं करती हैं, किन्तु कुछ एक श्रेणि पर आरोहण करने वाली होती हैं। जिससे यह जाना जा सकता है कि उपशमश्रेणि के सभी समयों में जीवों का प्रवेश नहीं होता है, किन्तु कुछ ही समयों में होता है। उसमें भी किसी समय पन्द्रह कर्म-भूमियों के आश्रय से अधिक-से-अधिक चउवन जीव ही एक साथ प्रवेश करने वाले हो सकते हैं, अधिक नहीं। इसीलिये कहा है कि श्रेणि के समस्त काल में संख्यात जीव ही होते हैं, असंख्यात नहीं और वे संख्यात भी सैकड़ों की संख्या^१ में जानना चाहिये, हजारों की संख्या में नहीं।

इस प्रकार से उपशमश्रेणि सम्बन्धी आठवें, नौवें, दसवें और उपशांतमोहगुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाने के पश्चात् अब क्षपकश्रेणि की अपेक्षा आठवें से दसवें और क्षीणमोहादि गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाते हैं।

‘खवगा’ यानि क्षपक—चारित्रमोहनीय की क्षपणा करने वाले आठवें नौवें और दसवें गुणस्थानवर्ती जीव एवं ‘खीणाजोगी’—क्षीण-मोहगुणस्थानवर्ती और अयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से एक सौ आठ होते हैं। इसका कारण यह है कि ये सभी गुणस्थानवर्ती जीव किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते हैं। क्योंकि क्षपकश्रेणि और अयोगिकेवलीगुणस्थानों का अन्तर पड़ता है। जिससे क्षपक—अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय

१ प्रतीत होता है कि यहाँ सैकड़ों प्रमाण संख्या नौ सौ तक हो सकती है।

और सूक्ष्मसंपराय तथा अयोगिकेवली गुणस्थानों में जब जीव होते हैं, तब जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से एक सौ आठ हो सकते हैं। यह कथन प्रवेश करने वालों की अपेक्षा जानना चाहिये कि अधिक-से-अधिक एक समय में एक साथ इतने जीव क्षपकश्रेणि में, क्षीणमोह-गुणस्थान में और अयोगिकेवलीगुणस्थान में प्रवेश करते हैं। क्षपक-श्रेणि और क्षीणमोह गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और अयोगिकेवलीगुणस्थान का काल पांच ह्रस्वाक्षर जितना है। इस क्षपकश्रेणि के सम्पूर्णकाल में और अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल में अन्य-अन्य जीव प्रवेश करें तो वे सब मिलकर शतपृथक्त्व ही होते हैं।

तात्पर्य यह है कि अन्तर्मुहूर्तप्रमाण क्षपकश्रेणि के समस्त काल में पन्द्रह कर्मभूमि में अन्य-अन्य जीव प्रवेश करें तो शतपृथक्त्व^१ जीव ही प्रवेश करते हैं, अधिक प्रवेश नहीं करते हैं। अयोगिकेवली की अपेक्षा भी यही समझना चाहिये।

सयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीव कोटिपृथक्त्व होते हैं। सयोगिकेवली सदैव होते हैं। क्योंकि यह नित्य गुणस्थान है। इस गुणस्थान में जघन्य से भी कोटिपृथक्त्व और उत्कृष्ट से भी कोटिपृथक्त्व जीव होते हैं, परन्तु जघन्य से उत्कृष्ट कोटिपृथक्त्व बड़ा जानना चाहिये।^२

इस प्रकार से जीवस्थानों और गुणस्थानों की अपेक्षा द्रव्यप्रमाण बतलाने के बाद अब क्रमप्राप्त क्षेत्रप्रमाण का वर्णन करते हैं। यहाँ भी पूर्व कथनप्रणाली के अनुसार पहले जीवस्थानों के क्षेत्र का प्रति-पादन करते हैं।

जीवस्थानों की क्षेत्रप्ररूपणा

अपज्जत्ता दोन्निवि सुहमा एगिंदिया जए सव्वे ।

सेसा य असंखेज्जा बायरपवणा असंखेसु ॥२५॥

१ यहाँ भी शतपृथक्त्व अधिक-से-अधिक नौ सौ सम्भव हैं।

२ यहाँ भी जघन्य और उत्कृष्ट कोटिपृथक्त्व में जघन्य संख्या दो करोड़ और उत्कृष्ट संख्या नौ करोड़ समझना चाहिये।

शब्दार्थ—अपञ्जत्ता—अपर्याप्त, दोन्नि—दोनों, वि—भी, सुहृमा—सूक्ष्म, एगिन्द्रिया—एकेन्द्रिय, जए—जगत—लोक में, सब्बे—समस्त, सेसा—शेष, य—और, असंखेज्जा—असंख्यातवें, बायर—बादर, पवणा—वायुकाय के जीव, असंखेसु—असंख्यातवें भाग में ।

गाथार्थ—दोनों प्रकार के अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समस्त लोक में हैं और शेष जीव लोक के असंख्यातवें भाग में हैं तथा बादर वायुकाय के जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हुए हैं ।

विशेषार्थ—क्षेत्रप्रमाण प्ररूपणा प्रारम्भ करते हुए गाथा में जीवभेदों के क्षेत्र का प्रमाण बताया है कि दोनों प्रकार के अपर्याप्त अर्थात् लब्धि-अपर्याप्त और करण-अपर्याप्त तथा गाथोक्त 'वि-अपि' शब्द अनुक्त का समुच्चायक होने से पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति—ये प्रत्येक प्रकार के जीव समस्त लोकाकाशव्यापी हैं—समस्त लोकाकाश में रहे हुए हैं ।

प्रश्न—पर्याप्तादि समस्त भेद वाले पृथ्वीकायादि सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोकव्यापी हैं, ऐसा कहने से ही जब सभी भेद वाले सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में हैं, यह इष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है, तब पुनः मुख्य रूप से अपर्याप्त का ग्रहण और 'अपि' शब्द से पर्याप्त का ग्रहण किसलिये किया है ?

उत्तर—यद्यपि सूक्ष्म जीवों में पर्याप्त की अपेक्षा अपर्याप्त अल्प हैं, तथापि स्वरूपतः अपर्याप्त जीवों का बाहुल्य बताने के लिये मुख्य रूप से अपर्याप्त का ग्रहण किया है । वह इस प्रकार कि यद्यपि पर्याप्त से अपर्याप्त संख्यातगुणहीन हैं, फिर भी वे समस्त लोक में रहते हैं, इस कथन द्वारा यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि अवश्य ही वे अधिक हैं ।

कदाचित् यह शंका हो कि पर्याप्त की अपेक्षा अपर्याप्त सूक्ष्म संख्यातगुणहीन कैसे हो सकते हैं, अपर्याप्त तो अधिक होने चाहिये ?

तो इसका उत्तर यह है कि प्रज्ञापनासूत्र में सूक्ष्म अपर्याप्तकों की अपेक्षा पर्याप्तकों को संख्यातगुणा कहा है। तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—

‘सत्त्वथोवा सुहृमा अपज्जत्ता, पज्जत्ता संखेयगुण त्ति ।’

अर्थात्—सूक्ष्म अपर्याप्त अल्प हैं और पर्याप्त संख्यातगुणे हैं।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है कि—

जीवाणमपज्जत्ता बहुतरगा बायराण चिन्नेया ।

सुहृमाण उ पज्जत्ता, ओहेण उ केवली बिन्ति ॥

अर्थात्—बादर जीवों में अपर्याप्त अधिक और सूक्ष्म जीवों में पर्याप्त अधिक जानना चाहिये, ऐसा सामान्य से केवली भगवान् ने कहा है।

इस प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के क्षेत्र का विचार करने के बाद अब शेष रहे बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों के क्षेत्र का प्रमाण बतलाते हैं कि पर्याप्त-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप्, तेज और वनस्पति तथा द्वीन्द्रिय आदि सभी जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं—‘सेसा य असंखेज्जा’ तथा पर्याप्त-अपर्याप्त बादर वायुकाय के जीव लोक के असंख्याता भागों में रहते हैं। क्योंकि लोक का जो कुछ भी पोला भाग है, उस सभी भाग में वायु रहती है। मेरु पर्वत के मध्य भाग आदि या उस सरीखे दूसरे अति निविड़ और निचित—सुघटित अवयव वाले क्षेत्रों में बादर वायुकाय के जीव नहीं होते हैं। क्योंकि वहाँ पोलापन नहीं होता है। ऐसा निचित भाग सम्पूर्ण लोक का असंख्यातवां भाग ही है, इसलिये एक असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष समस्त असंख्याता भागों में बादर वायुकाय के जीव रहते हैं।

इस प्रकार से जीवभेदों के क्षेत्र को बतलाने के बाद अब गुणस्थानों की अपेक्षा क्षेत्रप्रमाण को बतलाते हैं।

गुणस्थानापेक्षा क्षेत्रप्रमाण

सासायणाइ सव्वे लोयस्स असंखयम्मि भागम्मि ।

मिच्छा उ सव्वलोए होइ सजोगी वि समुघाए ॥२६॥

शब्दार्थ—सासायणाइ—सासादन आदि गुणस्थान वाले जीव, सव्वे—सभी, लोयस्स—लोक के, असंखयम्मि—असंख्यातवें, भागम्मि—भाग में, मिच्छा—मिथ्यादृष्टि, उ—और, सव्वलोए—समस्त लोक में, होइ—होते हैं, सजोगी—सयोगिकेवली, वि—भी, समुघाए—समुद्घात अवस्था में।

गाथार्थ—सासादन आदि सभी गुणस्थान वाले जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हुए हैं, मिथ्यादृष्टि सम्पूर्ण लोक में हैं और समुद्घात अवस्था में सयोगिकेवली भी सम्पूर्ण लोकव्यापी होते हैं।

विशेषार्थ—‘सासायणाइ सव्वे ...’ इत्यादि अर्थात् सासादन सम्यग्दृष्टि आदि क्षीणमोहगुणस्थान पर्यन्तवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान संज्ञी पंचेन्द्रिय में ही होते हैं और सासादनगुणस्थान अति अल्प कतिपय करण-अपर्याप्त बादर पृथ्वी, जल, वनस्पति, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में भी पाया जाता है, परन्तु वे और तीसरे आदि गुणस्थान वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय अति अल्प होने से लोक के असंख्यातवें भाग में ही होते हैं। इसी कारण उनका क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग बताया है।

मिथ्यादृष्टि जीव सम्पूर्ण लोक में पाये जाते हैं। क्योंकि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सकल लोकव्यापी हैं और वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं तथा समुद्घातस्थिति में सयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीव भी सकल लोकव्यापी हो जाते हैं। समुद्घात करने वाले केवली की आत्मा पहले दण्ड समय और दूसरे कपाट समय में लोक के असंख्यातवें भाग में रहती है एवं तीसरे मंथान समय में लोक के असंख्याता भागों में

रहती है और चौथे समय में सम्पूर्ण लोकव्यापी होती है। शास्त्र में भी कहा है—

‘चतुर्थे लोकपूरणमष्टमे संहार इति ।’

अर्थात्—चौथे समय में अपने आत्मप्रदेशों द्वारा सम्पूर्ण लोक को पूरित—व्याप्त करती है और आठवें समय में संहार करके शरीरस्थ होती है।

इस प्रकार से गुणस्थानों की अपेक्षा क्षेत्रप्रमाण जानना चाहिये। ऊपर यह तो कहा है कि समुद्घात में सयोगिकेवली भी सम्पूर्ण लोकव्यापी होते हैं, लेकिन समुद्घात का स्वरूप नहीं बताया है। इसलिये प्रासंगिक होने से अब समुद्घात का विवेचन करते हैं।

समुद्घात-विवेचन

वेयण-कसाय-मारण-वेउव्विय-तेउ-हार-केवलिया ।

सग पण चउ तिननि कमा मणुसुरनेरइयतिरियाणं ॥२७॥

पंचेन्द्रियतिरियाणं देवाण व होंति पंच सन्नीणं ।

वेउव्वियवाऊणं पढमा चउरो समुग्घाया ॥२८॥

शब्दार्थ—वेयण—वेदना, कसाय—कषाय, मारण—मारण, वेउव्विय—वैक्रिय, तेउ-हार—तैजस, आहारक, केवलिया—कैवलिक—केवली, सग—सात, पण—पांच, चउ—चार, तिननि—तीन, कमा—क्रमशः, मणु—मनुष्य, सुर—देव, नेरइय—नारक, तिरियाणं—तिर्यचों के।

पंचेन्द्रियतिरियाणं—पंचेन्द्रिय तिर्यचों के, **देवाण व—**देवों के सदृश, **होंति—**होते हैं, **पंच—**पांच, **सन्नीणं—**संज्ञी, **वेउव्वियवाऊणं—**वैक्रियलब्धियुक्त वायुकायिक जीवों के, **पढमा—**प्रथम आदि के, **चउरो—**चार, **समुग्घाया—**समुद्घात।

गाथार्थ—वेदना, कषाय, मारण, वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवली ये समुद्घात के सात प्रकार हैं। उनमें से मनुष्य, देव, नारक और तिर्यचों में अनुक्रम से सात, पांच, चार और तीन होते हैं तथा किन्हीं किन्हीं संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचों में देवों की तरह पांच

समुदघात होते हैं और वैक्रियलब्धिसम्पन्न वायुकायिक जीवों के आदल के चार समुदघात होते हैं ।

वलशेषार्थ—इन दो गाथाओं में समुदघात के भेद और उनके स्वामियों को बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सम्, उत् और घात इन तीन शब्दों के संयोग से समुदघात पद बना है । सम् का अर्थ है तन्मय होना, उत् यानल प्रबलता से, बहुत से, घात अर्थात् क्षय होना । इसका तात्पर्य यह हुआ कल तन्मय होने के द्वारा कालान्तर में भोगनेयोग्य बहुत से कर्माशों का जिसके द्वारा क्षय होता है, वह समुदघात है । यदल कहो कल तन्मयता किसके साथ होती है ? तो इसका उत्तर है कल वेदनादल के साथ । अर्थात् जब आत्मा वेदना आदल समुदघात को प्राप्त हुई होती है तब वेदना आदल का अनुभव ज्ञान में परलणत होता है, यानल उसी के उपयोग वाली होती है, अन्य ज्ञानरूप परलणत नहीं होती है और उस समय प्रबलता से कर्मक्षय इस प्रकार करती है कल वेदनादल के अनुभवज्ञान में परलणत आत्मा कालान्तर में अनुभव करनेयोग्य बहुत से वेदनीय आदल के कर्मप्रदेशों को उदीरणाकरण के द्वारा आकर्षलत कर उदयावललका में प्रवलष्ट कर क्षय करती है, आत्मप्रदेशों के साथ एकाकार हुए कर्माणुओं का नाश करती है । इस प्रकार से समुदघात का स्वरूप जानना चाहलये ।

अब समुदघात के भेद और उनकी ललक्षणलक वलाख्या करते हैं—

समुदघात के सात भेद हैं—वेदना, कषाय, मारणान्तलक, वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवली । इन वेदना आदल शब्दों के साथ उत्तरवर्ती गाथा में प्रयुक्त समुदघात शब्द को जोड़कर इस प्रकार इनका पूरा नाम कहना चाहलये—वेदनासमुदघात, कषायसमुदघात आदल ।

वेदनासमुदघात—वेदना द्वारा जो समुदघात होता है उसे वेदना-समुदघात कहते हैं । वह असातावेदनीयकर्मजन्य है । इसका तात्पर्य यह हुआ कल जब आत्मा वेदनासमुदघात को प्राप्त होती है तब

असातावेदनीयकर्म के पुद्गलों को क्षय करती है अर्थात् वेदना से विह्वल हुई आत्मा अनंतानन्त कर्मस्कन्धों से परिव्याप्त अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर भी निकालती है। शरीर के तीन भागों में से एक भाग पोला है, जिसमें आत्मप्रदेश नहीं होते हैं, दो भाग में होते हैं। जब समुद्घात होता है तब आत्मप्रदेश एकदम चल होते हैं और वे स्वस्थान से बाहर निकलते हैं और निकले हुए उन प्रदेशों के द्वारा मुख, उदर आदि के पोले भाग और कान, कंधा आदि के बीच के भाग पूरित हो लम्बाई-चौड़ाई में शरीरप्रमाण क्षेत्रव्यापी होकर अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त रहती है और उतने काल में वह आत्मा प्रभूत असातावेदनीयकर्म का क्षय करती है।

कषायसमुद्घात—कषाय के उदय से होनेवाला समुद्घात कषाय-समुद्घात कहलाता है और वह चारित्रमोहनीयकर्मजन्य है। अर्थात् कषायसमुद्घात को करती हुई आत्मा कषायचारित्रमोहनीय के कर्मपुद्गलों का क्षय करती है और वह क्षय इस प्रकार करती है कि कषाय के उदय से समाकुल—व्याकुल, विह्वल आत्मा अपने प्रदेशों को बाहर निकालकर और उन प्रदेशों द्वारा मुख, उदर आदि पोले भाग को पूरित कर तथा कान, कंधा आदि के अन्तर भाग को भी पूरित कर लम्बाई-चौड़ाई में शरीरप्रमाण क्षेत्र को व्याप्त कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रहती है और उतने काल में बहुत से कषायमोहनीय के कर्मपुद्गलों का क्षय करती है।

मारणांतिकसमुद्घात—इसी प्रकार मारणान्तिकसमुद्घात के लिये भी समझना चाहिये। अर्थात् मरणकाल में होने वाला जो समुद्घात उसे मरण या मारणान्तिकसमुद्घात कहते हैं। यह आयुकर्मविषयक है और अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रहने पर यह समुद्घात होता है और आत्मा आयुकर्मपुद्गलों का क्षय करती है।

वैक्रियसमुद्घात—वैक्रियशरीर का प्रारम्भ करते समय होने वाला समुद्घात वैक्रियसमुद्घात कहलाता है। यह वैक्रियशरीरनामकर्म-

विषयक है। वैक्रियसमुद्घात करती हुई आत्मा अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उन प्रदेशों की मोटाई और चौड़ाई में अपने शरीरप्रमाण और लम्बाई में संख्यात योजनप्रमाण दण्ड करती है और दण्ड करके वैक्रियशरीरनामकर्म के पुद्गलों को पहले की तरह क्षय करती है।

तैजस, आहारक समुद्घात—तैजस और आहारक समुद्घात अनुक्रम से तैजस और आहारक शरीरनामकर्मजन्य हैं और इनको वैक्रिय-समुद्घात की तरह समझना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि तैजस और आहारक समुद्घात करती हुई आत्मा क्रमशः तैजस और आहारक नामकर्म के पुद्गलों को क्षय करती है। वैक्रिय और आहारक ये दोनों समुद्घात उस-उस शरीर की विकुर्वणा करते समय होते हैं तथा तैजससमुद्घात जब किसी जीव पर तेजोलेश्या फँकी जाती है, तब होता है।

केवलिसमुद्घात—अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष जाने वाले केवलिभगवन्तों को होने वाला समुद्घात केवलिसमुद्घात कहलाता है। केवलिसमुद्घात करते हुए केवलिभगवान् साता-असाता वेदनीय, शुभ-अशुभ नामकर्म और उच्च-नीच गोत्रकर्म के पुद्गलों का क्षय करते हैं।

उक्त सात प्रकार के समुद्घातों में से केवलिसमुद्घात के अतिरिक्त शेष सभी समुद्घातों का काल अन्तर्मुहूर्त है। मात्र केवलिसमुद्घात का काल आठ समय है।^१

अब इन समुद्घातभेदों का चार गतियों में विचार करते हैं—

मनुष्यगति में सातों समुद्घात होते हैं। क्योंकि मनुष्यों में सभी भाव संभव हैं। देवगति में आदि के पांच समुद्घात होते हैं। क्योंकि चौदहपूर्व का अध्ययन और क्षायिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होने से

१ समुद्घात का विशेष विवेचन प्रज्ञापनासूत्र के ३६वें पद में देखिये।

आहारक और केवलि, ये दो समुद्घात नहीं होते हैं। नरकगति में आदि के चार समुद्घात होते हैं। क्योंकि तेजोलब्धि भी न होने के कारण नारकों में तैजससमुद्घात भी नहीं हो सकता है। इसीलिये नरकगति में तैजस, आहारक और केवलि समुद्घात के सिवाय शेष चार समुद्घात माने जाते हैं। तिर्यचगति में वैक्रियलब्धि वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय और वायुकायिक जीवों को छोड़कर शेष जीवों में आदि के वेदना, कषाय और मारणान्तिक, ये तीन समुद्घात होते हैं। इन तिर्यच जीवों में वैक्रियलब्धि न होने से वैक्रियसमुद्घात का निषेध किया है। लेकिन कितने ही संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचों में देवों की तरह पांच समुद्घात होते हैं। क्योंकि उनमें वैक्रिय और तेजोलब्धि भी संभव है और वैक्रियलब्धि वाले वायुकाय के जीवों के आदि के वेदना, कषाय, मारणान्तिक और वैक्रिय, ये चार समुद्घात पाये जाते हैं।

इस प्रकार से क्षेत्रप्ररूपणा जानना चाहिये। अब स्पर्शनाप्ररूपणा करते हैं। पहले जीवभेदों की अपेक्षा स्पर्शना का विचार करते हैं।

जीवभेदापेक्षा स्पर्शना

चउदसविहावि जीवा समुग्घाएणं फुसंति सब्वजगं ।

रिउसेढीए व केई एवं मिच्छा सजोगी या ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—चउदसविहावि—चौदहों प्रकार के, जीवा—जीव, समुग्घाएणं—समुद्घात से, फुसंति—स्पर्श करते हैं, सब्वजगं—समस्त लोक का, रिउसेढीए—ऋजुश्रेणि द्वारा, व—अथवा, केई—कितने ही, एवं—इसी प्रकार, मिच्छा—मिथ्यादृष्टि, सजोगी—सयोगिकेवली, या—और।

गाथार्थ - चौदहों प्रकार के जीव समुद्घात द्वारा सर्व लोक का स्पर्श करते हैं अथवा कितने ही जीव ऋजुश्रेणि द्वारा सर्व जगत का स्पर्श करते हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि और सयोगिकेवली समुद्घात द्वारा सर्वलोक का स्पर्श करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में सभी जीवभेदों और पहले एवं तेरहवें गुण-

स्थानवर्ती जीवों की स्पर्शना का विचार किया गया है। जीवभेदों की अपेक्षा स्पर्शना का विचार इस प्रकार है कि—

‘चउदसविहावि जीवा’ अर्थात् अपर्याप्त, पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि चौदह प्रकार के जीव ‘समुग्घाएण’—मारणान्तिकसमुद्घात द्वारा सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं—‘फुसंति सब्वजगं’ ।

लेकिन सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा इतना विशेष है कि पर्याप्त और अपर्याप्त ये दोनों प्रकार के सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोक में रहे हुए हैं। जिससे वे स्वस्थान की अपेक्षा भी सम्पूर्ण लोक को स्पर्श करते हुए उत्पन्न होते हैं। स्वस्थान की अपेक्षा यानि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न हों तो उनके सम्पूर्ण लोकवर्ती होने से समुद्घात के बिना भी वे सम्पूर्ण जगत का स्पर्श करते हुए उत्पन्न होते हैं। जब स्वस्थान की अपेक्षा सर्व जगत का स्पर्श करते हुए उत्पन्न होते हैं तो फिर मारणान्तिकसमुद्घात द्वारा सर्व-जगत का स्पर्श करते हुए क्यों उत्पन्न नहीं होंगे? अर्थात् उत्पन्न होंगे ही। क्योंकि कितने ही जीव अधोलोक से ऊर्ध्वलोक में उत्पन्न होते हैं, उनके चौदह राजू की स्पर्शना सम्भव है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के अलावा बादर अपर्याप्त एकेन्द्रियादि सभी जीव स्वस्थानापेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहे हुए हैं, जिससे वे स्वस्थानापेक्षा तो सर्व लोक का स्पर्श नहीं करते हैं, परन्तु समुद्घात द्वारा समस्त लोक का स्पर्श करते हैं। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि—

मारणान्तिकसमुद्घात करती हुई आत्मा मोटाई और चौड़ाई में अपने शरीर प्रमाण और लम्बाई में जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट से असंख्याता योजनप्रमाण अपने प्रदेशों को दण्डाकाररूप में परिणत करती है और परिणत करके आगामी भव में जिस स्थान पर उत्पन्न होगी, उस स्थान में अपने दण्ड का प्रक्षेप करती है। यदि वह उत्पत्तिस्थान समश्रेणि में हो तो मारणान्तिक-

समुद्घात द्वारा एक समय में ही प्राप्त करती है और यदि विषम-श्रेणि में हो तो उत्कृष्ट से चौथे समय में प्राप्त करती है।

इस प्रकार अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियादि बारह प्रकार के जीव मारणान्तिकसमुद्घात द्वारा सर्व जगत का स्पर्श कर सकते हैं। यह कथन अनेक जीवों की अपेक्षा जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव चौदह राजूप्रमाण ऊँचे लोक में व्याप्त होने से उनमें का एक भी जीव मारणान्तिकसमुद्घात द्वारा अथवा ऋजु-श्रेणि द्वारा चौदह राजू को स्पर्श कर सकता है। परन्तु बादर एकेन्द्रिय आदि बारह प्रकार के जीव सर्व लोकव्यापी नहीं होने से उनमें का कोई एक जीव ऊपर ऊर्ध्वलोक के^१ स्वयोग्य स्थान में उत्पन्न हो, अन्य जीव नीचे स्वयोग्य स्थान में उत्पन्न हो, इस प्रकार अनेक जीवों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात द्वारा उनमें चौदह राजू वाले लोक की स्पर्शना घट सकती है तथा कितने ही सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव ऋजु-श्रेणि द्वारा भी समस्त लोक का स्पर्श करते हैं।^२

ऋजुश्रेणि द्वारा स्पर्श कैसे करते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि अधोलोक में से ऊर्ध्वलोक के अन्त में उत्पन्न होने पर सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव चौदह राजू का स्पर्श करते हैं। इसी प्रकार समस्त दिशाओं के लिये जान लेना चाहिये। जिससे एक, अनेक जीवों की अपेक्षा ऋजु-श्रेणि के द्वारा भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं।

१ ऊर्ध्वलोक में अनुत्तर विमान के पृथ्वीपिंड में अथवा सिद्धशिला में एकेन्द्रिय रूप से और नीचे सातवें नरक के पाथड़ों के पृथ्वीपिंड में उत्पत्ति सम्भव है।

२ ऋजुश्रेणि द्वारा सर्व जगत का स्पर्श करते हैं, ऐसा कहने का कारण यह है कि सभी जीव मारणान्तिकसमुद्घात करें ही, ऐसा नहीं है, कोई करते हैं और कोई नहीं भी करते हैं। जो नहीं करते हैं, वे भी ऋजुगति द्वारा चौदह राजू की स्पर्शना कर सकते हैं।

इस प्रकार से अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि चौदह प्रकार के जीवभेदों की स्पर्शना का विचार करने के बाद अब गुणस्थानों की अपेक्षा स्पर्शना का विचार करते हैं ।

गुणस्थानापेक्षा स्पर्शना-प्ररूपणा

मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती और सयोगिकेवली भगवान् सर्व जगत का स्पर्श करते हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यह पूर्व में बताया जा चुका है कि समस्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान होता है । इसीलिये कहा है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव सर्व लोक का स्पर्श करते हैं तथा सयोगिकेवली भगवान् केवलिसमुद्रघात के चौथे समय में सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं । जिसका उल्लेख क्षेत्रप्ररूपणा के प्रसंग में किया जा चुका है । तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये ।

अत्र शेष गुणस्थानों की स्पर्शना का कथन करते हैं—

मीसा अजया अड अड बारस सासायणा छ देसजई ।

सग सेसा उ फुसंति रज्जू खीणा असंखंसं ॥३०॥

शब्दार्थ—मीसा—मिश्र, अजया—अविरतसम्यग्दृष्टि, अड अड—आठ-आठ, बारस—बारह, सासायणा—सासादनसम्यग्दृष्टि, छ—छह, देसजई—देशविरत, सग—सात, सेसा—शेष, उ—और, फुसंति—स्पर्श करते हैं, रज्जू—राजू, खीणा—क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती, असंखंसं—असंख्यातवें भाग को ।

गाथार्थ—मिश्रदृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि आठ-आठ राजू को, सासादनसम्यग्दृष्टि बारह राजू को, देशविरत छह राजू को और क्षीणमोहगुणस्थान को छोड़कर शेष गुणस्थान वाले जीव सात-सात राजू को एवं क्षीणमोहगुणस्थान वाले राजू के असंख्यातवें भाग को स्पर्श करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में दूसरे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के

जीवों की स्पर्शना का प्रमाण बतलाया है। जिसका तीन गाथाओं में कारण सहित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सहस्रारंतियदेवा नारयनेहेण जंति तइयभुवं ।

निज्जति अच्चुयं जा अच्चुयदेवेण इयरसुरा ॥३१॥

छट्टाए नेरइओ सासणभावेण एइ तिरिमणुए ।

लोगंतनिककुडेसु जंतिऽन्ने सासणगुणत्था ॥३२॥

उवसामगउवसंता सब्बट्ठे अप्पमत्तविरया य ।

गच्छन्ति रिउगईए पुं देसजया उ बारसमे ॥३३॥

शब्दार्थ—सहस्रारंतिय—सहस्रार तक के, देवा—देव, नारयनेहेण—नारकों के स्नेह से, जंति—जाते हैं, तइयभुवं—तीसरी पृथ्वी, निज्जति—ले जाते हैं, अच्चुयं—अच्युत, जा—पर्यन्त, अच्चुयदेवेण—अच्युत देवलोक के देव, इयरसुरा—दूसरे देवों को ।

छट्टाए—छठी नरकपृथ्वी में वर्तमान, नेरइओ—नारक, सासणभावेण—सासादनभाव सहित, एइ—आते हैं, उत्पन्न होते हैं, तिरिमणुए—तिर्यंच और मनुष्य में, लोगंतनिककुडेसु—लोकान्त के निष्कुट क्षेत्रों में, जंति—जाते हैं, अन्ने—अन्य, सासणगुणत्था—सासादनगुणस्थान वाले ।

उवसामग—उपशमक, **उवसंता—**उपशांत, **सब्बट्ठे—**सर्वार्थसिद्ध विमान में, **अप्पमत्तविरया—**अप्रमत्तविरत, **य—**और, **गच्छन्ति—**जाते हैं, उत्पन्न होते हैं, **रिउगईए—**ऋजुगति से, **पुं—**पुरुष (मनुष्य), **देसजया—**देशविरत जीव, **उ—**और, **बारसमे—**बारहवें ।

गाथार्थ—सहस्रार देवलोक तक के देव नारकों के स्नेह से तीसरी पृथ्वी तक जाते हैं और अच्युत देवलोक के देव दूसरे देवों को अच्युत देवलोक पर्यन्त ले जाते हैं, (जिससे उनकी आठ-आठ राज्ञ की स्पर्शना घटित होती है ।)

छठी नरकपृथ्वी में वर्तमान नारक सासादनभाव सहित तिर्यंच या मनुष्य में उत्पन्न होते हैं तथा कितने ही सासादन-गुणस्थानवर्ती जाव लोकान्त के निष्कुट क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं ।

इस प्रकार कुल मिलाकर उनकी बारह राजू की स्पर्शना होती है ।

उपशमक, उपशान्त और प्रमत्त, अप्रमत्तविरत जीव ऋजुगति से सर्वार्थसिद्धविमान में उत्पन्न होते हैं तथा देशविरत मनुष्य बारहवें देवलोक में उत्पन्न होते हैं । (इस-इस अपेक्षा से उन-उन गुणस्थानवर्ती जीवों की क्रमशः सात और छह राजू की स्पर्शना घटित होती है ।)

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में से पहली गाथा में तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों की, दूसरी में दूसरे सासादनगुणस्थानवर्ती जीवों की और तीसरी में पांचवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों की स्पर्शना का विचार किया गया है । अनुक्रम से जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मिश्रदृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव मरण को प्राप्त नहीं होने से यहाँ भवस्थ मिश्रदृष्टि का ग्रहण करना चाहिये ।

सहस्रार देवलोक तक के देव पूर्वजन्म के मित्र नारक के स्नेहवश उसकी वेदना शान्त करने अथवा उपलक्षण से पूर्वजन्म के शत्रु नारक की वेदना बढ़ाने के लिये तीसरी नरकपृथ्वी तक जाते हैं । यद्यपि आनत आदि देवलोकों के देवों में जाने का शक्ति है, किन्तु अल्प स्नेह आदि वाले होने के स्नेहादि प्रयोजन से भी नरक में नहीं जाते हैं । इसीलिये यहाँ सहस्रार तक के देवों का ग्रहण किया है ।

अच्युत देवलोक के देव जन्मान्तर के स्नेह से अथवा इसी भव के स्नेह से अन्य देवों को अच्युत देवलोक पर्यन्त ले जा सकते हैं । जिससे मिश्रदृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि इन दोनों के आठ-आठ राजू की स्पर्शना घटित होती है ।^१

१ अविरतसम्यग्दृष्टि की स्पर्शना मिश्रदृष्टि की तरह जो आठ राजू की कही है, उसमें मिश्रदृष्टि मरण को प्राप्त नहीं होने से जैसे भवस्थ का (क्रमशः)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वजन्म का अथवा इस जन्म का मित्र अच्युतदेवलोक का देव स्नेहवशात् जब मिश्रदृष्टि भवनपति आदि देव को अच्युतदेवलोक में ले जाये तब उसके छह राजू की स्पर्शना घटित होती है। क्योंकि तिर्यंग्लोक (मध्यलोक) से अच्युत-देवलोकपर्यन्त छह राजू होते हैं तथा कोई सहस्रारकल्पवासी मिश्रदृष्टि देव पूर्वजन्म के मित्र नारक की वेदना शान्त करने अथवा पूर्व के शत्रु नारक की वेदना उदीरित करने बालुकाप्रभा नामक तीसरी नरकपृथ्वीपर्यन्त जाये तब भवनवासी देवों के निवास के नीचे दो

ग्रहण किया है, उसी प्रकार मरण को प्राप्त करने पर भी भवस्थ अविरत-सम्यग्दृष्टि की विवक्षा की हो ऐसा प्रतीत होता है। तभी मिश्रदृष्टि की तरह अविरत की आठ राजू की स्पर्शना बताई है। यदि ऐसी विवक्षा न की जाये तो अविरतसम्यग्दृष्टि के नौ राजू की स्पर्शना होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अनुत्तर विमान से च्यवकर मनुष्यगति में आने पर सात राजू की स्पर्शना होती है तथा सहस्रारादि कोई सम्यग्दृष्टि देव नारकी की वेदना बढ़ाने या शांत करने तीसरे नरक पर्यन्त जाते हैं, जिससे पहले और दूसरे नरक के एक राजू का स्पर्श करने से दो राजू हुए। जिनको उपर्युक्त सात राजू में मिलाने पर नौ राजू होते हैं। परन्तु उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है, किन्तु आठ राजू की स्पर्शना कही है। इससे यह सिद्ध होता है कि मिश्रदृष्टि की तरह भवस्थ अविरतसम्यग्दृष्टि की विवक्षा की है।

- १ सात नरकपृथ्वियों में से प्रत्येक के एक-एक राजू ऊँचे होने से अधोलोक के सात राजू में मतभेद नहीं है, किन्तु ऊर्ध्वलोक के सात राजू में मतभेद है। बृहत्संग्रहणी आदि के अभिप्रायानुसार प्रथम नरकपृथ्वी के ऊपरी तल से सौधर्मदेवलोकपर्यन्त एक राजू, वहाँ से माहेन्द्रकल्पपर्यन्त दूसरा राजू, वहाँ से लांतकपर्यन्त तीसरा राजू, वहाँ से सहस्रार तक चौथा राजू, वहाँ से अच्युतपर्यन्त पांचवाँ राजू, वहाँ से त्रैवेयकपर्यन्त छठा और वहाँ से लोकान्त पर्यन्त सातवाँ राजू होता है। यहाँ तिर्यंग्लोक के मध्य भाग

राजू अधिक होने से पूर्वोक्त छह राजू में इन दो राजू को मिलाने पर आठ राजू होते हैं।

इस प्रकार अनेक जीवों को अपेक्षा मिश्रदृष्टि जीव की तिर्यग्लोक से अच्युत तक छह राजू और पहली, दूसरी नरकपृथ्वी की एक-एक राजू कुल मिलाकर आठ राजू की स्पर्शना होती है।

अथवा कोई मिश्रदृष्टि सहस्रारकल्पवासी देव पूर्वोक्त कारण से तीसरी नरकपृथ्वी में जाता हुआ सात राजू स्पर्श करता है और उसी सहस्रार देव को कोई अच्युतदेवलोक का देव स्नेहवश अच्युतदेवलोक में ले जाये तब सहस्रार से अच्युत तक के एक राजू को अधिक स्पर्श करता है। इस प्रकार एक ही देव की अपेक्षा भी आठ राजू की स्पर्शना घटित होती है। अविरतसम्यग्दृष्टि के भी मिश्रदृष्टि की तरह आठ राजू की स्पर्शना समझना चाहिये।

प्रश्न—अविरतसम्यग्दृष्टि उसी भव में सम्यक्त्व में रहते हुए काल भी करते हैं और सम्यक्त्व को साथ लेकर अन्य गति में भी जाते हैं, जिससे उनका दूसरी प्रकार से भी विचार क्यों नहीं करते? मिश्रदृष्टि वत् भवस्थ सम्बक्त्वी की अपेक्षा ही क्यों विचार किया है?

उत्तर—दूसरी तरह से उनकी आठ राजू की स्पर्शना असंभव है। क्योंकि सम्यक्त्व सहित तिर्यंच अथवा मनुष्य कालधर्म को प्राप्त कर

से अच्युतपर्यन्त पांच राजू होते हैं, यह कहा है। परन्तु जीवसमासादि के मत से छह राजू होते हैं, जो इस प्रकार जानना चाहिए—

ईसाणमि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जुमाहिन्दे।

पंचेव सहस्रारे छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥१६॥

अर्थात् तिर्यग्लोक के मध्य भाग से ईशानपर्यन्त डेढ़ राजू, भाहेन्द्र-पर्यन्त ढाई राजू, सहस्रारपर्यन्त पांच राजू, अच्युतपर्यन्त छह राजू और लोकान्त पर्यन्त सात राजू होते हैं।

यहाँ जो छह राजू का संकेत किया है, वह इसी पाठ के आधार से किया है और तभी अच्युतपर्यन्त छह राजू की स्पर्शना घटित होती है।

दूसरी आदि नरकपृथ्वियों में जाता नहीं है तथा उसी प्रकार दूसरी आदि नरकपृथ्वियों में से सम्यक्त्व सहित तिर्यंच अथवा मनुष्य में आता नहीं है। जिससे मरणापेक्षा अधोलोक की स्पर्शना बढ़ती नहीं है। इसी तरह कालधर्म प्राप्त कर सम्यक्त्व सहित अनुत्तर विमानवासी देवभव में जाने अथवा वहाँ से च्यवकर मनुष्य भव में आने पर सर्वोत्कृष्ट सात राजू की स्पर्शना सम्भव है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार कालधर्म प्राप्त कर सम्यक्त्व सहित अन्य गति में जाते एवं आते सात राजू की स्पर्शना संभव है। सामान्य रूप से तो अविरत-सम्यग्दृष्टि के भी मिश्रदृष्टि की तरह आठ राजू की स्पर्शना समझनी चाहिये, अन्य प्रकार से नहीं।

अन्य कितने ही आचार्य अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के उत्कृष्ट से नौ राजू की स्पर्शना मानते हैं कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव क्षायिक सम्यक्त्व को लेकर तीसरी नरकपृथ्वी में भी जाते हैं। जिससे अनुत्तर विमानवासी देवभव में जाते अथवा वहाँ से च्यवकर मनुष्यभव में आते समय सात राजू की स्पर्शना होती है और तीसरी नरकपृथ्वी में उत्पन्न होने अथवा वहाँ से च्यवकर मनुष्यभव में आने पर दो राजू की स्पर्शना होती है, इस प्रकार सामान्यतया अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के नौ राजू की स्पर्शना सम्भव है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र आदि के मतानुसार तो चतुर्थ गुणस्थान वाले जीवों के बारह राजू की स्पर्शना भी सम्भव है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि अनुत्तर देवभव में जाते अथवा वहाँ से च्यवकर मनुष्यभव में आने पर सात राजू की स्पर्शना होती है तथा बद्धायुष्क अविरतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लेकर छठी नरकपृथ्वी में नारकरूप से उत्पन्न हो सकता है अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वयुक्त नारक वहाँ से च्यवकर मनुष्यभव में उत्पन्न होता है। इससे अविरतसम्यग्दृष्टि छठी नरकपृथ्वी में जाते अथवा वहाँ से आते हुए पाँच राजू को स्पर्शता है। इस तरह

कुल मिलाकर अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों के सामान्यतः बारह राजू की स्पर्शना होती है ।

इस प्रकार से मिश्रदृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों की स्पर्शना का विचार करने के बाद अब सासादनगुणस्थान वालों की बारह राजू की स्पर्शना का विचार करते हैं कि—

‘छट्ठाए नेरइओ’ अर्थात् छठी नरकपृथ्वी में वर्तमान कोई नारक अपने भव के अन्त में औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर वहाँ से गिरकर सासादनभाव को प्राप्त होता हुआ काल करे और काल करके तिर्यच अथवा मनुष्य भव में उत्पन्न हो, जिससे उसके पांच राजू की स्पर्शना होती है तथा सासादनगुणस्थान में वर्तमान कितने ही तिर्यच अथवा मनुष्य मध्यलोक से ऊपर लोकान्त निष्कुट क्षेत्रों में अर्थात् त्रसनाड़ी के अन्त में रहे हुए लोकान्त प्रदेशों में उत्पन्न होते हैं, जिससे उनके सात राजू की स्पर्शना होती है । इस प्रकार कुल मिलाकर सासादनगुणस्थानवर्ती जीवों के सामान्य से बारह राजू की स्पर्शना सम्भव है ।^१

सासादनभाव को प्राप्त हुए जीवों की प्रायः अधोगति नहीं होती है, जिससे सासादनगुणस्थान को लेकर प्रायः कोई जीव अधोगति में जाते नहीं हैं, जिससे बारह राजू की स्पर्शना का प्रतिपादन किया है । कदाचित् सासादनगुणस्थान वालों की अधोगति भी हो तो अधोलोक के निष्कुटादि में भी उनकी उत्पत्ति संभव होने से चौदह राजू की स्पर्शना संभव है, परन्तु वैसा नहीं होने से बारह राजू की ही स्पर्शना बताई है ।

-
- १ सातवीं नरकपृथ्वी का नारक सासादनगुणस्थान को छोड़कर ही तिर्यच में उत्पन्न होता है, इसलिए छठवीं नरकपृथ्वी को ग्रहण किया है ।
 - २ यहाँ एक जीव की अपेक्षा नहीं, किन्तु एक गुणस्थान की अपेक्षा स्पर्शना का विचार किया जा रहा है । जिससे अनेक जीवों की अपेक्षा बारह राजू की स्पर्शना होने में कोई दोष नहीं है ।

अब देशविरत आदि शेष गुणस्थानों की स्पर्शना का विचार करते हैं—

उपशमक यानि उपशमश्रेणि पर आरूढ़ अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादरसंपराय और सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती जीव और उपशांत यानि उपशांतमोहगुणस्थानवर्ती जीव एवं अप्रमत्तविरत और गाथा के दूसरे पद के अन्त में उल्लिखित 'य-च' शब्द से अप्रमत्तभावाभिमुख प्रमत्तसंयत मुनि, इन सबके ऋजुगति द्वारा सर्वार्थसिद्धविमान में उत्पन्न होने पर सात राजू की स्पर्शना सम्भव है ।

क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ अपूर्वकरणादि गुणस्थानवर्ती जीव मरण को प्राप्त नहीं करते हैं और न मारणान्तिकसमुद्घात ही प्रारम्भ करते हैं, इसलिये उनके लोक के असंख्यातवें भाग मात्र स्पर्शना घटित होती है, अधिक नहीं । इसी कारण क्षीणमोहगुणस्थान की लोक के असंख्यातवें भाग मात्र स्पर्शना बताई है ।

प्रश्न—जब मनुष्यभव की आयु का क्षय हो और परभव की आयु का उदय हो तब परलोकगमन सम्भव है, उस समय अविरतपना होता है, उपशम आदि भाव नहीं होते हैं । क्योंकि प्रमत्तादि भाव मनुष्यभव के अन्त समय तक ही होते हैं । परभवायु के प्रथम समय में तो अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान होता है, इसलिये सर्वार्थसिद्ध महा-विमान में जाते हुए चतुर्थ गुणस्थान की सात राजू की स्पर्शना सम्भव है, अपूर्वकरणादि की सम्भव नहीं है । तो फिर यहाँ अपूर्वकरणादि की सात राजू की स्पर्शना क्यों बताई है ?

उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है । परभव में जाते गति दो प्रकार से होती है—(१) कंदुकगति, (२) इल्लिकागति । इनमें से कंदुक (गेंद) की तरह जो गति होती है, उसे कंदुकगति कहते हैं । यानि जैसे गेंद अपने समस्त प्रदेशों का पिंड करके पूर्व के स्थल के साथ सम्बन्ध रखे बिना ऊपर जाती है, उसी तरह कोई जीव भी परभव की आयु का जब उदय होता है, तब परलोक में जाते हुए अपने प्रदेशों को एकत्रित

करके पूर्वस्थान के साथ सम्बन्ध रखे बिना उत्पत्तिस्थान में चला जाता है। कंदुकगति करने वाली आत्मा के अपनी आयु के चरम समय पर्यन्त मनुष्यभव और परभवायु के प्रथम समय में देवभव का सम्बन्ध होता है, जिससे कंदुकगति करने वाले की अपेक्षा प्रमत्तादि गुणस्थान वालों के सात राजू की स्पर्शना नहीं घटती है।

दूसरी इल्ली की तरह जो गति है, उसे इल्लिकागति कहते हैं। जैसे इल्ली की पूँछ यानि पीछे का भाग जिस स्थान पर होता है, उस स्थान को नहीं छोड़ते हुए मुख यानि अग्रभाग द्वारा आगे के स्थान को अपना शरीर बढ़ा कर स्पर्श करती है और उसके बाद पिछला भाग सिकोड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे इल्ली पिछले भाग द्वारा पूर्वस्थान का सम्बन्ध छोड़े बिना अगले स्थान से सम्बन्ध करती है और अगले भाग के साथ सम्बन्ध करने के बाद पिछले स्थान का सम्बन्ध छोड़ती है, उसी प्रकार कोई जीव अपने भव के अन्तकाल में अपने प्रदेशों से ऋजुगति द्वारा उत्पत्तिस्थान का स्पर्श करके परभवायु के प्रथम समय में पूर्व के शरीर का त्याग करता है। इस तरह अपने भव के अन्त समय में कि जिस समय प्रमत्तादि भाव होते हैं—अपने आत्मप्रदेशों द्वारा सर्वार्थसिद्ध महाविमानरूप अपने उत्पत्तिस्थान को स्पर्श करने वाला होने से इल्लिकागति की अपेक्षा प्रमत्त एवं उपशमकादि के सात राजू की स्पर्शना में कोई विरोध नहीं है।

इस तरह ऋजुगति द्वारा जाते हुए प्रमत्तादि के सात राजू की स्पर्शना सम्भव है, किन्तु वक्रगति से जाते हुए संभव नहीं है। क्योंकि ऋजुगति से जाते हुए अपनी आयु के अन्तिम समय में अपने प्रदेशों के द्वारा उत्पत्तिस्थान का स्पर्श करता है। जिससे उस अन्तिम समय में प्रमत्तादि गुणस्थान और सात राजू की स्पर्शना, ये दोनों सम्भव हैं।

वक्रगति से जाने पर दूसरे समय में उत्पत्तिस्थान का स्पर्श करता है कि जिस समय परभव की आयु का उदय होता है। पहले समय मध्य में रहता है, जो पूर्व भवायु का अन्तिम समय है। इस प्रकार

पूर्वभव के अन्तिम समय मध्य में और परभवायु के पहले समय उत्पत्ति-स्थान में जाता है। परभवायु के पहले समय में उत्पत्तिस्थान में जाने वाला होने से और उस समय अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान होने से वक्रगति से जाते हुए प्रमत्तादि के सात राजू की स्पर्शना संभवित नहीं है।

अब शेष रहे देशविरत गुणस्थान की स्पर्शना बतलाते हैं कि 'पुं'देसजया' इस पद में 'पुं' पद द्वारा सामान्य से मनुष्य का ग्रहण किया है। इसलिये सामान्य से मनुष्य देशविरत जीव ऋजुगति द्वारा जब बारहवें अच्युतस्वर्ग में उत्पन्न होता है, तब उसके छह राजू की स्पर्शना घटित होती है। यहाँ मनुष्य को ग्रहण करने का कारण यह है कि तिर्यंच सहस्रार नामक आठवें देवलोक तक ही जाते हैं। देशविरत आदि गुणस्थान अपने भव के अन्त समय पर्यन्त ही होते हैं। इसलिये पूर्व में कही गई युक्ति से ऋजुगति से ही जाने पर छह राजू की स्पर्शना देशविरत जीव के संभव है। तिर्यंग्लोक के मध्यभाग से अच्युत देवलोक पर्यन्त छह राजू होते हैं, इसलिये देशविरतगुणस्थान-वर्ती जीवों की छह राजू की स्पर्शना बताई है।

इस प्रकार से स्पर्शना-प्ररूपणा जानना चाहिये। अब काल-प्ररूपणा प्रारम्भ करते हैं।

१ देशविरत को स्पर्शना के लिये जीवसमास में बताया है कि देशविरत मनुष्य यहाँ से मरकर अच्युत देवलोक में उत्पन्न होने पर छह राजू को स्पर्श करता है, किन्तु यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि देवलोक में उत्पन्न होने वाला वह जीव देव होने से अविरतसम्यग्दृष्टि है, देशविरत नहीं। क्योंकि जो देशविरत जीव ऋजुगति के द्वारा एक समय में देव उत्पन्न होता है, उसकी पूर्वभव की आयु का क्षय हुआ नहीं एवं पूर्वभव के शरीर का भी सम्बन्ध नहीं छूटा है। जिससे ऋजुगति में पूर्वभव की आयु और पूर्वभव के शरीर का सम्बन्ध होने से वह आत्मा देशविरत ही है। इसी कारण ऋजुगति से जाने पर छह राजू की स्पर्शना बताई है।

काल-प्ररूपणा

काल तीन प्रकार का है—(१) भवस्थितिकाल, (२) कायस्थितिकाल और (३) प्रत्येक गुणस्थानाश्रितकाल। उनमें से भवस्थिति का काल यानि एक भव की आयु। कायस्थितिकाल यानि पृथ्वीकायादि में से मरण करके बारम्बार वहीं उत्पन्न होने का काल। जैसे कि पृथ्वीकाय का जीव मरण प्राप्त कर पृथ्वीकाय हो, पुनः पुनः मरण प्राप्त कर पृथ्वीकाय में जन्म लेना, इस तरह एक के बाद एक के क्रम से जितने काल पृथ्वीकाय हो, वह काल कायस्थितिकाल कहलाता है। प्रत्येक गुणस्थान एक-एक आत्मा में जितने काल तक रहता है, उसका जो निश्चित समय वह गुणस्थानाश्रितकाल कहलाता है। इनमें से पहले जीवभेदों की भवस्थिति बतलाते हैं।

भवस्थिति

सत्तण्हमपज्जाणं अंतमुहुत्तं दुहावि सुहुमाणं ।

सेसाणंपि जहन्ना भवठिई होइ एमेव ॥३४॥

शब्दार्थ—सत्तण्हं—सात, अपज्जाणं—अपर्याप्तों की, अंतमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त, दुहावि—दोनों ही प्रकार की, सुहुमाणं—सूक्ष्म जीवों की, सेसाणंपि—शेष जीवों की भी, जहन्ना—जघन्य, भवठिई—भवस्थिति, होइ—होती है, एमेव—इसी प्रकार।

गाथार्थ—सातों अपर्याप्तक और सूक्ष्म पर्याप्तक की दोनों ही प्रकार की आयु अन्तर्मुहूर्त तथा शेष जीवों की भी जघन्य भवस्थिति इसी प्रकार है।

विशेषार्थ—गाथा में मुख्यरूप से चौदह जीवभेदों की जघन्य भवस्थिति को बतलाया है कि—

‘सत्तण्हमपज्जाणं’ अर्थात् सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप सातों लब्ध-अपर्याप्तक जीवों की तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकों की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार की एक भवसम्बन्धी आयु का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। वे

अन्तमुर्हृतं मात्र ही जीते हैं। लेकिन इतना विशेष है कि जघन्य से उत्कृष्ट अन्तमुर्हृतं बड़ा है तथा शेष बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों की जघन्य आयु अन्तमुर्हृतं प्रमाण होती है और वह दो सौ छप्पन आवलिका से अधिक ही होती है।

इस प्रकार से अपर्याप्तकों की एवं सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य व उत्कृष्ट भवस्थिति का प्रमाण बतलाने के बाद अब पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि की उत्कृष्ट आयु (भवस्थिति) का प्रमाण बतलाते हैं—

बावीससहस्राइं बारस वासाइं अउणपन्नदिणा ।

छम्मास पुव्वकोडी तेत्तीसयराइं उक्कोसा ॥३५॥

शब्दार्थ—बावीससहस्राइं—बाईस हजार, बारस—बारह, वासाइं—वर्ष, अउणपन्नदिणा—उनचास दिन, छम्मास—छह मास, पुव्वकोडी—पूर्व-कोटि, तेत्तीसयराइं—तेतीस सागरोपम, उक्कोसा—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—(बादर) एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त की क्रमशः बाईस हजार वर्ष, बारह वर्ष, उनचास दिन, छह मास, पूर्वकोटि वर्ष और तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में चौदह जीवभेदों में से पर्याप्त बादर एकेन्द्रियादि की जघन्य आयु का प्रमाण बतलाया है। अब यहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त को छोड़कर शेष बादर एकेन्द्रिय आदि पर्याप्त जीवों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण बतलाते हैं कि पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि का बाईस हजार आदि संख्या पदों के साथ अनुक्रम से इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिये—

पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की है। किन्तु वह आयु पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय की अपेक्षा जानना चाहिये। जलकाय आदि शेष एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा नहीं। क्योंकि शेष एकेन्द्रिय जीवों की इतनी दीर्घ आयु नहीं होती है। बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष, बादर पर्याप्त जलकाय

की सात हजार वर्ष, बादर पर्याप्त तेजस्काय की तीन दिन-रात, पर्याप्त बादर वायुकाय की तीन हजार वर्ष और पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है।^१ अतएव पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय की बाईस हजार वर्ष की उत्कृष्ट आयु बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय की अपेक्षा से ही घटित होती है, और दूसरे एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा नहीं।

पर्याप्त द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष की है। पर्याप्त त्रीन्द्रिय की उनचास दिन की और पर्याप्त चतुरिन्द्रिय की उत्कृष्ट आयु छह मास की है तथा पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है, जो पर्याप्त संमूर्च्छिम जलचर की अपेक्षा से जानना चाहिये, परन्तु संमूर्च्छिम स्थलचर आदि की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि उनकी उत्कृष्ट आयु इतनी नहीं होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पर्याप्त संमूर्च्छिम जलचर की उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण, पर्याप्त संमूर्च्छिम चतुष्पद स्थलचर की चौरासी हजार वर्ष, पर्याप्त संमूर्च्छिम उरपरिसर्प की त्रेपन हजार वर्ष, पर्याप्त संमूर्च्छिम भुजपरिसर्प की बियालीस हजार वर्ष और पर्याप्त संमूर्च्छिम खेचर की बहत्तर हजार वर्ष की उत्कृष्ट आयु होती है। इस प्रकार संमूर्च्छिम पर्याप्त जलचर की अपेक्षा से ही पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय की पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण आयु घटित होती है, अन्य संमूर्च्छिम स्थलचर आदि की अपेक्षा से नहीं।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट भवस्थिति तेतीस सागरोपम है और वह अनुत्तर विमानवासी देव अथवा सातवीं नरकपृथ्वी के नारक की अपेक्षा जानना चाहिये, अन्य संज्ञी जीवों को अपेक्षा नहीं। क्योंकि

१ इसी प्रकार से दिग्म्बर साहित्य में भी पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय आदि की भवस्थिति बतलाई है। देखो—मूलाचार गाथा ११०५-११११।

अन्य संज्ञी जीवों की इतनी भवस्थिति नहीं होती है। वह इस प्रकार है—

संज्ञी जीवों के चार प्रकार हैं—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। सात नरकपृथ्वी के भेद से नारक सात प्रकार के हैं। उनमें से (१) रत्नप्रभापृथ्वी के नारक की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागरोपम, (२) शर्कराप्रभा के नारक की जघन्य आयु एक सागरोपम, उत्कृष्ट तीन सागरोपम, (३) बालुकाप्रभा के नारक की जघन्य आयु तीन सागरोपम, उत्कृष्ट सात सागरोपम, (४) पंकप्रभा के नारक की जघन्य आयु सात सागरोपम, उत्कृष्ट दस सागरोपम, (५) धूमप्रभा के नारक की जघन्य आयु दस सागरोपम, उत्कृष्ट सत्रह सागरोपम की, (६) तमःप्रभा के नारक की जघन्य आयु सत्रह सागरोपम, उत्कृष्ट बाईस सागरोपम और (७) सातवीं पृथ्वी महातमप्रभा के नारक की जघन्य आयु बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के पांच भेद हैं—जलचर, चतुष्पद, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर। इनमें से जलचर तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष की है, चतुष्पद स्थलचर की तीन पत्योपम की, उरपरिसर्प स्थलचर को पूर्वकोटि वर्ष की, भुजपरिसर्प स्थलचर की पूर्वकोटि वर्ष और खेचर की उत्कृष्ट आयु पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है^१।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्यों की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पत्योपम प्रमाण है।

देव चार प्रकार के हैं—भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक। इनमें से भवनपति दस प्रकार के हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत-

१ गर्भमि पुव्वकोडी तिन्नि य पलिओवमाइं परमाउं ।

उरभुयग पुव्वकोडी पलिओवमअसंखभागे य ॥

कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार । ये दसों भवनपति दो-दो प्रकार के हैं—(१) मेरुपर्वत के दक्षिणार्ध भाग में रहने वाले और (२) मेरुपर्वत के उत्तरार्ध भाग में रहने वाले । दक्षिणार्ध भाग में रहने वाले असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम और उत्तरार्ध भाग में रहने वालों की कुछ अधिक एक सागरोपम की है तथा दक्षिणार्ध में रहने वाले नागकुमार आदि नौ भवनपति देवों की उत्कृष्ट आयु डेढ़ पल्योपम और उत्तरार्ध में रहने वालों की उत्कृष्ट आयु देशोन दो पल्योपम की है^१ तथा दक्षिणार्धवर्ती असुरकुमारों के स्वामी चमरेन्द्र की देवियों की उत्कृष्ट आयु साढ़े तीन पल्योपम की और उत्तरवर्ती असुरकुमारों के स्वामी बलीन्द्र की देवियों की उत्कृष्ट आयु साढ़े चार पल्योपम की है तथा दक्षिणदिग्वर्ती नागकुमार आदि नौ निकायों की देवियों की उत्कृष्ट आयु डेढ़ पल्योपम है और उत्तरदिग्वर्ती नौ निकाय की देवियों की उत्कृष्ट आयु देशोन दो पल्योपम की है^२ । इन्द्र-इन्द्राणी की जो उत्कृष्ट आयु कही है, वह समस्त देव-देवियों के लिये भी समझना चाहिये तथा समस्त भवनपति देव-देवियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है ।

व्यंतर आठ प्रकार के हैं—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किंनर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व । इन आठों प्रकार के व्यंतरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम और जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है तथा व्यंतरी की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम है ।

१ तत्त्वार्थधिगम सूत्र ४/३१ में पीने दो पल्य की बताई है ।

२ बृहत्संभ्रहिणी, गाथा ४ में दक्षिणदिग्वर्ती नागकुमार आदि नौ निकायों की देवियों की उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम और उत्तरवर्ती देवियों की उत्कृष्ट आयु देशोन एक पल्योपम बताई है ।

ज्योतिष्क देवों के पांच भेद हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनमें से चन्द्र विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम है तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु पचास हजार वर्ष अधिक अर्ध पल्योपम प्रमाण है।

सूर्य विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु पांच सौ वर्ष अधिक अर्ध पल्योपम प्रमाण है।

ग्रह विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम प्रमाण है।

नक्षत्र विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम है तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक पल्योपम का चौथा भाग है।

तारा विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवाँ भाग और उत्कृष्ट आयु पल्योपम का चौथा भाग एवं देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवाँ भाग और उत्कृष्ट साधिक पल्योपम का आठवाँ भाग है।

वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—(१) कल्पोपन्न और (२) कल्पातीत। उनमें से बारह देवलोक में उत्पन्न हुए स्वामि-सेवक की मर्यादा वाले देव कल्पोपन्न और स्वामी-सेवक की मर्यादा रहित ग्रंथेयक और अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पोपन्न देवों में से सौधर्म देवलोक के देवों की जघन्य आयु एक पल्योपम और उत्कृष्ट आयु दो सागरोपम की है। परिगृहीत—किसी एक देव द्वारा ग्रहण की हुई देवी की जघन्य आयु पल्योपम और

उत्कृष्ट सात पल्योपम की है। अपरिगृहीत—किसी भी देव द्वारा ग्रहण नहीं की हुई देवों की जघन्य आयु पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु पचास पल्योपम की होती है।

ईशान देवलोक में देवों की जघन्य आयु साधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु साधिक दो सागरोपम की। परिगृहीत देवों की जघन्य आयु साधिक पल्योपम की और उत्कृष्ट नौ पल्योपम की है एवं अपरिगृहीत देवों की जघन्य आयु साधिक पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु पचपन पल्योपम की है।

सनत्कुमार देवलोक में जघन्य आयु दो सागरोपम की और उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम की, माहेन्द्र देवलोक में जघन्य आयु साधिक दो सागरोपम, उत्कृष्ट आयु साधिक सात सागरोपम, ब्रह्म देवलोक में जघन्य आयु सात सागरोपम, उत्कृष्ट आयु दस सागरोपम, लांतक देवलोक में जघन्य आयु दस सागरोपम, उत्कृष्ट आयु चौदह सागरोपम, महाशुक्र देवलोक में जघन्य आयु चौदह सागरोपम, उत्कृष्ट आयु सत्रह सागरोपम, सहस्रार देवलोक में जघन्य आयु सत्रह सागरोपम, उत्कृष्ट आयु अठारह सागरोपम, आनत देवलोक में जघन्य आयु अठारह सागरोपम, उत्कृष्ट उन्नीस सागरोपम, प्राणत देवलोक में जघन्य आयु उन्नीस सागरोपम, उत्कृष्ट बीस सागरोपम, आरण देवलोक में जघन्य आयु बीस सागरोपम, उत्कृष्ट इक्कीस सागरोपम, अच्युत देवलोक में जघन्य आयु इक्कीस सागरोपम, उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की जानना चाहिये।

सौधर्म से लेकर अच्युत देवलोक पर्यन्त बारह देवलोकों में स्वामी-सेवक की कल्पना होती है। इसके आगे के देवलोक कल्पातीत कहलाते हैं। इन कल्पातीत देवलोकों में से अधस्तन-अधस्तन ग्रैवेयक के विमानों के देवों की जघन्य आयु बाईस सागरोपम, उत्कृष्ट तेईस सागरोपम, अधस्तन-मध्यम ग्रैवेयक में जघन्य तेईस सागरोपम, उत्कृष्ट चौबीस सागरोपम, अधस्तन-उपरितन ग्रैवेयक के देवों की जघन्य आयु चौबीस सागरोपम की और उत्कृष्ट पच्चीस सागरोपम, मध्यम-अधस्तन ग्रैवेयक

में जघन्य पच्चीस सागरोपम, उत्कृष्ट छब्बीस सागरोपम, मध्यम-मध्यम ग्रैवेयक में जघन्य छब्बीस सागरोपम, उत्कृष्ट सत्ताईस सागरोपम, मध्यम-उपरितन ग्रैवेयक में जघन्य आयु सत्ताईस सागरोपम, उत्कृष्ट अट्ठाईस सागरोपम की, उपरितन-अधस्तन ग्रैवेयक में जघन्य अट्ठाईस सागरोपम की, उत्कृष्ट उनतीस सागरोपम की, उपरितन-मध्यम ग्रैवेयक में जघन्य उनतीस सागरोपम और उत्कृष्ट तीस सागरोपम, उपरितन-उपरितन ग्रैवेयक में जघन्य तीस सागरोपम, उत्कृष्ट इकतीस सागरोपम की आयु होती है ।

पांच अनुत्तर विमानों में से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चार अनुत्तर विमान के देवों की जघन्य आयु इकतीस सागरोपम, उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम^१ और सर्वार्थसिद्ध महाविमान के देवों की अजघन्योत्कृष्ट अर्थात् जघन्य और उत्कृष्ट ऐसे भेद के स्थिति बिना एक जैसी तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु होती है ।

इस प्रकार सातवीं नरकपृथ्वी के नारकों और अनुत्तर विमानवासी देवों को छोड़कर अन्यत्र तेतीस सागरोपमप्रमाण आयु नहीं होती है, इसीलिये उनकी (सातवीं नरक के नारकी और सर्वार्थसिद्ध विमान के देव की) अपेक्षा ही संज्ञो पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट भव-तेतीस सागरोपमप्रमाण जानना चाहिये^२ ।

इस प्रकार से भवस्थिति काल का विचार करने के बाद अब एक जीव के प्रत्येक गुणस्थान में रह सकने के काल को बतलाते हैं ।

मिथ्यात्वगुणस्थान का काल

होइ अणाइ अणंतो अणाइ संतो य साइसंतो य ।

देसूणपोगलद्ध अंतमुहुत्तं चरिममिच्छो ॥३६॥

१ तत्त्वार्थधिगमसूत्र ४।३८ में तथा उसके भाष्य में विजयादि चार की उत्कृष्ट आयु ३२ सागरोपम है ।

२ प्रज्ञापनासूत्र में आगत भवस्थिति का वर्णन परिशिष्ट में देखिये ।

शब्दार्थ—होइ—है, अणाइ—अनादि, अणंतो—अनन्त, अणाइसंतो—अनादि-सांत, य—और, साइसंतो—सादि-सांत, य—और, देसूण—देशोन, कुछ कम, पोगगलद्धं—अर्ध पुद्गलपरावर्तन, अंतमुहुत्तं—अन्तमुर्हूर्त, चरिम—अंतिम, मिच्छो—मिथ्यादृष्टि ।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टिगुणस्थान का स्थितिकाल अनादि-अनन्त, अनादि-सांत और सादि-सांत, इस तरह तीन प्रकार का है । उनमें से अन्तिम (सादि-सांत काल वाला) मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट से देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्तन और जघन्य से अन्तमुर्हूर्त होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में एक जीव की अपेक्षा मिथ्यात्वगुणस्थान के काल का विचार किया है । काल की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि तीन प्रकार के होते हैं—(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सांत और, (३) सादि-सांत । इनमें से अभव्य की अपेक्षा और जो कभी भी मोक्ष जाने वाले नहीं हैं ऐसे भव्यों की अपेक्षा अनादि-अनन्त स्थितिकाल है । इसका कारण यह है कि वे अनादिकाल से लेकर आगामी सम्पूर्ण काल पर्यन्त मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में ही रहने वाले हैं ।

जो भव्य अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु भविष्य में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे, उन मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा अनादि-सान्त काल है ।

जो जीव तथाभव्यत्वभाव के परिपाक के वश सम्यक्त्व प्राप्त करके किसी कारण से गिरकर मिथ्यात्व का अनुभव करते हैं, परन्तु कालान्तर में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा सादि-सांत काल घटित होता है । क्योंकि ऐसी आत्माओं ने सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद गिरकर मिथ्यात्वगुणस्थान प्राप्त किया है, इसलिये सादि तथा कालान्तर में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेंगी, तब मिथ्यादृष्टिगुणस्थान का अन्त होगा, इसलिये सांत ।

सादि-सांत काल वाला यह मिथ्यादृष्टि जघन्य से अन्तमुर्हूर्त पर्यन्त होता है । क्योंकि सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में आकर पुनः

अन्तर्मुहूर्त काल में ही सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है और उत्कृष्ट से कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल पर्यन्त होता है। क्योंकि सम्यक्त्व से गिरा हुआ जीव अधिक से अधिक देशों अर्ध पुद्गलपरावर्तन के अन्त में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करता है। इसी कारण मिथ्यादृष्टि का सादि-अनन्त काल नहीं होता है। क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थान का जब सादित्व होता है तब उत्कृष्ट से किञ्चित् न्यून अर्ध पुद्गलपरावर्तन के अन्त में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्व का अन्त करता है, अनन्तकाल तक मिथ्यात्व में नहीं रहता है।

सादि-सांत मिथ्यात्व का उत्कृष्ट काल देशों अर्ध पुद्गलपरावर्तन बताया है। अतः अब पुद्गलपरावर्तन का वर्णन करते हैं।

पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप और भेद

पोगलपरियट्टो इह द्वाइ चउध्विहो मुण्येव्वो ।

एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएणं ॥३७॥

शब्दार्थ—पोगलपरियट्टो—पुद्गलपरावर्तन, इह—यहाँ, द्वाइ—द्रव्यादि के भेद से, चउध्विहो—चार प्रकार का, मुण्येव्वो—जानना चाहिये, एक्केक्को—एक-एक, पुण—पुनः फिर, दुविहो—दो प्रकार का, बायरसुहुमत्त-भेएणं—बादर और सूक्ष्म के भेद से।

गाथार्थ—यहाँ पुद्गलपरावर्तन द्रव्यादि के भेद से चार प्रकार का जानना चाहिये तथा एक-एक (प्रत्येक) बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—गाथा में पुद्गलपरावर्तन के भेद और उन भेदों के भी अन्य प्रकारों का निर्देश किया है कि पुद्गलपरावर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है। अतएव उनके नाम इस प्रकार जानना चाहिये—(१) द्रव्य पुद्गलपरावर्तन, (२) क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन, (३) काल पुद्गलपरावर्तन और (४) भाव पुद्गलपरावर्तन। ये प्रत्येक बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। यथा—बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन, सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन। इसी प्रकार प्रत्येक के भेद जानना चाहिये।

अब अनुक्रम से इन चारों का वर्णन करते हैं ।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तन

सर्वप्रथम बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं—

संसारंमि अडंतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू ।

इगु जीवु मुयई बायर अन्नयरतणुट्टिओ सुहुमो ॥३८॥

शब्दार्थ—संसारंमि—संसार में, अडंतो—परिभ्रमण करता हुआ, जाव—जितने, य—और, कालेण—काल द्वारा, फुसिय—स्पर्श करके, सव्वाणू—समस्त अणुओं को, इगु—एक, जीवु—जीव, मुयइ—छोड़ता है, बायर—बादर, अन्नयरतणुट्टिओ—अन्यतर शरीर में रहते हुए, सुहुमो—सूक्ष्म ।

गाथार्थ—संसार में परिभ्रमण करता हुआ कोई जीव जितने काल में समस्त अणुओं को (औदारिकादि शरीर रूप में) स्पर्श करके छोड़ता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और किसी अन्यतर (किसी भी एक) शरीर में रहते हुए समस्त अणुओं को जितने काल में स्पर्श करे, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में पुद्गलपरावर्तन के चार भेदों में से बादर, सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘संसारंमि अडंतो’ अर्थात् कर्मवशात् जीव जिसके अन्दर परिभ्रमण करें, भटकें, उस चौदह राजूप्रमाण क्षेत्र को संसार कहते हैं । इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ कोई एक जीव सम्पूर्ण चौदह राजू लोक में जो परमाणु हों, उनको जितने काल में स्पर्श करके छोड़ दे, यानि कि औदारिकादि रूप में परिणमित-परिणमित करके छोड़ दे, उतने कालविशेष को बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि जितने काल में एक जीव जगत् में विद्यमान समस्त परमाणुओं को यथायोग्य रीति से औदारिक, वैक्रिय, तैजस्, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्मण इन सातों रूप में से किसी न

किसी तरह से परिणत करके छोड़ दे, उतने कालविशेष को बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इस प्रकार से बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं—

‘अन्नयरतणुद्विओ सुहुमो’ अर्थात् औदारिक आदि शरीर में से किसी एक शरीर में रहते हुए संसार में परिभ्रमण करने वाला जीव जितने काल में जगद्वर्ती समस्त परमाणुओं को उसी शरीर रूप से स्पर्श (ग्रहण) करके छोड़ दे, उतने कालविशेष को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जितने काल में लोकाकाश में विद्यमान समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि में से किसी भी विवक्षित एक शरीर में परिणत करके छोड़ने में जितना काल हो, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इस प्रकार से सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप जानना चाहिये।

यद्यपि बादर और सूक्ष्म दोनों द्रव्य पुद्गलपरावर्तनों में ग्रहण योग्य औदारिक आदि वर्गणाओं के पुद्गलों को ग्रहण किया जाता है, लेकिन इन दोनों (बादर और सूक्ष्म) में इतना विशेष है कि बादर में औदारिक, वैक्रिय आदि के जगद्वर्ती समस्त परमाणुओं को जिस किसी भी रूप में परिणत करे, वह उनका परिणाम माना जाता है और सूक्ष्म में औदारिक रूप में परिणत करते हुए यदि बीच में वैक्रिय रूप से परिणत करने लगे तो उनका उस रूप में परिणाम नहीं गिना जाता है। किन्तु काल गिन लिया जाता है।

बादर में तो किसी न किसी प्रकार से जगद्वर्ती समस्त परमाणुओं को आहारक^१ को छोड़कर औदारिक आदि कार्मण वर्गणा पर्यन्त

१ यहाँ आहारकशरीर को ग्रहण न करने का कारण यह है कि आहारकशरीर एक जीव के अधिक से अधिक चार बार हो सकता है। अतः वह पुद्गलपरावर्तन के योग्य नहीं है।

सात रूपों में परिणत करना द्रव्य पुद्गलपरावर्तन माना जाता है और सूक्ष्म में किसी भी एक रूप में परिणत करना होता है। सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन में विवक्षित एक शरीर के सिवाय यदि अन्य शरीर के रूप में परिणत कर करके जिन पुद्गलों को छोड़ा जाता है, उनको नहीं गिनते हैं। परन्तु सुदीर्घकाल में भी विवक्षित एक शरीर रूप में जब जगद्वर्ती परमाणुओं को परिणत करे, तब उसका परिणाम गिना जाता है। काल तो प्रारम्भ से अंत तक का गिना ही जाता है।

इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप जानना चाहिये।^१ अब बादर और सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं।

१ बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन के उक्त कथन का सारांश यह है कि औदारिक आदि आठ ग्रहणयोग्य वर्गणाओं में से आहारक शरीरवर्गणा को छोड़कर शेष वर्गणाओं के समस्त परमाणुओं को जितने समय में एक जीव औदारिकादि कामण शरीर पर्यन्त परिणत कर (भोगकर) छोड़ देता है, उसे बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप परिणतकर उन्हें ग्रहण कर छोड़ देता है, उतने समय को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि यदि औदारिक शरीर रूप से परमाणुओं को परिणतमाना प्रारम्भ किया है और उसके मध्य-मध्य में कुछ परमाणुओं को वैक्रिय आदि शरीर रूप ग्रहण करके छोड़ दे तो उनको गणना में नहीं लिया जाता है। अर्थात् जिस शरीर रूप परिवर्तन प्रारम्भ हुआ था, उसी शरीर रूप जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उन्हीं को सूक्ष्म में ग्रहण किया जाता है तथा जिन पुद्गलों को एक बार ग्रहण करके छोड़ दिया हो, उनको पुनः ग्रहण किया जाये या मिश्र ग्रहण किया जाये तो उनकी स्पर्शना ग्रहण नहीं की जाती है। परन्तु जिनको ग्रहण नहीं किया था, उसको ग्रहण करके परिणत करके छोड़ दे, उसकी स्पर्शना गिनी जाती है।

क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन

लोगस्स पएसेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।

खेत्तामि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥३६॥

शब्दार्थ—लोगस्स—लोकाकाश के, पएसेसु—प्रदेशों में, अणंतरपरंपराविभत्तीहिं—अनन्तर या परम्परा विधि—प्रकार से, खेत्तामि—क्षेत्र में, बायरो—बादर, सो—वह, सुहुमो—सूक्ष्म, उ—और, अणंतरमयस्स—अनन्तर प्रकार से मरते हुए ।

गाथार्थ—अनन्तर या परम्परा प्रकार से लोकाकाश के प्रदेशों में मरण को प्राप्त होते हुए जीव को जितना काल होता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और अनन्तर प्रकार से मरते जीव को जितना काल होता है, वह सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहलाता है ।

विशेषार्थ—गाथा में बादर और सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बताया है । उनमें से बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप इस प्रकार है—

चौदह राजू प्रमाण ऊंचे लोकाकाश के प्रदेशों में अनन्तर प्रकार से यानि क्रमपूर्वक—एक के अनन्तर एक आकाश प्रदेशों में मरण को प्राप्त होते हुए अथवा परम्परा प्रकार से अक्रमपूर्वक—क्रम के सिवाय आकाश प्रदेश को स्पर्श करके मरण को प्राप्त होते हुए एक जीव को जितना काल होता है, उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जितने काल में एक जीव लोकाकाश के समस्त आकाश प्रदेशों को क्रम से या अक्रम से—बिनाक्रम के मरण द्वारा स्पर्श करता है, उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए—

चौदह राजू प्रमाण लोक के समस्त प्रदेशों में किसी एक जीव को क्रमपूर्वक—एक के बाद एक, इस तरह के क्रम से एक-एक आकाशप्रदेश का स्पर्श कर मरण को प्राप्त होते हुए जितना काल होता है, उतने को सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। जिसका आशय यह है कि यद्यपि जीव की जघन्य अवगाहना भी असंख्य आकाशप्रदेश-प्रमाण होती है, जिससे एक आकाशप्रदेश का स्पर्श कर मरण संभव नहीं है, लेकिन जिस समय उस क्षेत्र के किसी भी एक आकाशप्रदेश सम्बन्धी स्पर्शना की विवक्षा करके उसको अवधिरूपमानना चाहिये। तत्पश्चात् उस आकाशप्रदेश से अन्य भाग में रहे हुए आकाश प्रदेशों को मरण द्वारा स्पर्श करे तो उसको गिना नहीं जाता है, परन्तु अनन्तकाल में उस मर्यादा रूप एक आकाशप्रदेश के निकटवर्ती दूसरे आकाशप्रदेश को मरण द्वारा स्पर्श करे तब वह स्पर्शना गिनी जाती है। इसी प्रकार उसके निकटवर्ती तीसरे आकाशप्रदेश का स्पर्श करके जितने काल में मरण को प्राप्त करे वह गिना जाता है। इस प्रकार क्रमपूर्वक लोकाकाश के समस्त आकाश प्रदेशों को मरण द्वारा स्पर्श करते जितना काल हो, उसे सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।^१

इस प्रकार से बादर, सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब यथाक्रम से बादर और सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं।

- १ इन दोनों क्षेत्र पुद्गलपरावर्तनों में केवल इतना अन्तर है कि बादर में तो क्रम का विचार नहीं किया जाता है। उसमें व्यवहित प्रदेश में मरण करने पर भी यदि वह प्रदेश पूर्वस्पृष्ट नहीं है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात् बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन में क्रम या बिना क्रम के समस्त प्रदेशों में मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है किन्तु सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण करना चाहिए, अक्रम से जिन प्रदेशों में मरण होता है, उनकी गणना नहीं की जाती है। पहले से दूसरे में अधिक समय लगता है।

काल पुद्गलपरावर्तन

उस्सप्पिणिसमएसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।

कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥४०॥

शब्दार्थ—उस्सप्पिणिसमएसु—उत्सर्पिणी (और अवसर्पिणी) के समयों को, अणंतरपरंपराविभत्तीहिं—अनन्तर और परम्परा प्रकार से, कालम्मि—काल में, बादर—बादर, सो—वह, सुहुमो—सूक्ष्म, उ—और, अणंतरमयस्स—अनन्तर प्रकार से मरते हुए ।

गाथार्थ—अनन्तर अथवा परम्परा प्रकार से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के समयों को मरण द्वारा स्पर्श करते हुए जितना काल होता है, उसे बादर काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और अनन्तर प्रकार से—एक के बाद एक समयों को मरण द्वारा स्पर्श करते जितना काल होता है, उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

विशेषार्थ—द्रव्य और क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब यहाँ काल पुद्गलपरावर्तन का विचार करते हैं । इसके भी बादर और सूक्ष्म यह दो भेद हैं । उनमें से पहले बादर काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं—

‘उस्सप्पिणीसमएसु’ अर्थात् उत्सर्पिणी के ग्रहण से अवसर्पिणी का भी उपलक्षण से ग्रहण करके यह अर्थ करना चाहिये कि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों में अनन्तर प्रकार से और परम्परा से मरण को प्राप्त करते हुए जीव को जितना काल होता है, उतने को काल बादर पुद्गलपरावर्तन कहते हैं । यानि जितने काल में एक जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सर्व समयों को क्रम या अक्रम से मरण द्वारा स्पर्श करे अर्थात् येनकेन प्रकारेण समस्त समयों में मरण प्राप्त करे, उतने काल को बादर काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

अब सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं—

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के समस्त समयों में से उत्सर्पिणी के प्रथम समय से प्रारम्भ करके तत्पश्चात् क्रमपूर्वक मरण को प्राप्त करके जितना काल जाये उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरण को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् वही जीव समय न्यून बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण काल व्यतीत होने के बाद यदि उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरण को प्राप्त हो तो वह दूसरा समय मरण से स्पर्श किया गया माना जायेगा। यदि उत्सर्पिणी के अन्य अन्य समयों को मरण द्वारा स्पर्श किया है, किन्तु क्रमपूर्वक उनका स्पर्श नहीं किये जाने ने उनकी स्पर्शना गणना में ग्रहण नहीं की जाती है। अब कदाचित्त वह जीव उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरण को प्राप्त न हो किन्तु अन्य समय में मरण को प्राप्त हो तो वह भी नहीं गिना जायेगा परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी व्यतीत हो जाने के बाद जब उत्सर्पिणी के दूसरे समय मरण को प्राप्त करे तभी वह समय गिना जायेगा। इस प्रकार क्रमपूर्वक उत्सर्पिणी के सभी समयों को और उसके बाद अवसर्पिणी के समस्त समयों को मरण द्वारा स्पर्श करते हुए जितना काल हो, उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। उत्सर्पिणी के पहले समय में मरण को प्राप्त करे तो उस उत्सर्पिणी और उसके बाद की अवसर्पिणी जाने के बाद की उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरण को प्राप्त हो तो वह गिना जायेगा। इस प्रकार क्रमपूर्वक उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के समयों में मरण को प्राप्त करते-करते जितना काल होता है, उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।¹

- १ बादर और सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन के उक्त लक्षणों का सारांश यह है कि जितने समय में एक जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में क्रम या बिनाक्रम के मरण कर चुकता है, उतने काल को बादर काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं तथा कोई एक जीव किसी विवक्षित उत्सर्पिणी काल के पहले समय में मरा, पुनः उसके दूसरे समय में मरा, पुनः तीसरे समय में मरा, इस प्रकार क्रमवार उत्सर्पिणी और



इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब बादर और सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं।

भाव पुद्गलपरावर्तन

अणुभागट्ठाणेषु अणंतरपरंपराविभत्तीहि ।

भावंमि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुणुक्कमसो ॥४१॥

शब्दार्थ—अणुभागट्ठाणेषु—अनुभागस्थानों में, अणंतरपरंपराविभत्तीहि—अनन्तर और परम्परा के क्रम से, भावंमि—भाव में, बायरो—बादर, सो—वह, सुहुमो—सूक्ष्म, सव्वेसुणुक्कमसो—अनुक्रम से समस्त अध्यवसायों में।

गाथार्थ—अनन्तर और परम्परा के क्रम से अनुभागस्थानों में मरण को प्राप्त करते जितना काल हो, उसे बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और अनुक्रम से समस्त अध्यवसायों में मरण को प्राप्त करते जितना काल जाता है, उसे सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पुद्गलपरावर्तन के चार भेदों में से अंतिम भाव पुद्गलपरावर्तन के बादर और सूक्ष्म प्रकारों का स्वरूप बतलाया है कि अनुभागस्थानों में यानि रसबंध में हेतुभूत असंख्यात लोकाकाश-प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों में एक जीव जितने काल में अनन्तर अथवा परंपरा से मरण को प्राप्त करे, उतने काल को बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। -

इसका तात्पर्य यह है कि अनुभागस्थान अर्थात् रसस्थानों के बंध

अवसर्पिणी काल के सब समयों में जब मरण कर चुकता है, तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। क्षेत्र की तरह यहाँ भी समयों की गणना क्रमवार करना चाहिए। व्यवहित की गणना नहीं की जाती है।

में हेतुभूत कषायोदयजन्य जो अध्यवसाय हैं, वे कारण में कार्य का आरोप करने से अनुभागस्थान कहलाते हैं। वे अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। अतएव जितने काल में एक जीव क्रम से या अक्रम से रसबंध के समस्त अध्यवसायों में मरण को प्राप्त हो यानि प्रत्येक अध्यवसाय को क्रम से या अक्रम से मरण द्वारा स्पर्श करे, उतने काल को बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इस प्रकार से बादर भाव पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं।

रसबंध के हेतुभूत समस्त अध्यवसायों में क्रमपूर्वक मरण को प्राप्त करते हुए जितना काल हो, उसे सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं, अर्थात् कोई एक जीव जघन्य कषाय के उदय से उत्पन्न हुए अध्यवसाय में मरण को प्राप्त हुआ, उसके बाद वही जीव अनन्तकाल में भी प्रथम के निकटवर्ती दूसरे अध्यवसाय में मरण को प्राप्त हो तो वह मरण गणना में ग्रहण किया जायेगा, किन्तु अन्य-अन्य अध्यवसायों में हुए मरणों को गणना के क्रम में नहीं लिया जायेगा। तत्पश्चात् पुनः कालान्तर में दूसरे के निकटवर्ती तीसरे अध्यवसाय में मरण को प्राप्त करे तो वह मरण गिना जायेगा, परन्तु बीच-बीच में अन्य अन्य अध्यवसायों के द्वारा हुए अनन्त मरण नहीं गिने जायेंगे। यानी उत्क्रम से मरणों द्वारा हुई अध्यवसाय की स्पर्शना नहीं गिनी जायेगी, किन्तु काल गिना जायेगा। इस प्रकार अनुक्रम से रसबंध के समस्त अध्यवसायस्थानों को जितने काल में मरण द्वारा स्पर्श किया जाये, उतने काल को सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन जानना चाहिये।^१

१ बादर सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन के उक्त लक्षणों का सारांश यह है कि तरतमता को लिये हुए अनुभागबंधस्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। उन स्थानों में से एक-एक अनुभागबंधस्थान में क्रम से या अक्रम से मरण करते-करते जीव जितने समय में समस्त अनुभागबंधस्थानों में मरण कर चुकता है, उतने समय को बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं तथा



यहाँ पर बादर पुद्गलपरावर्तनों की प्ररूपणा सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए की है।

सिद्धान्त में सर्वत्र सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों को उपयोगी बताया है और स्थूल पुद्गलपरावर्तनों का विचार उन सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप समझने की अपेक्षा से किया है। यद्यपि चारों सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों में परमार्थतः कुछ विशेषता नहीं है, फिर भी जीवाभिगम आदि सूत्रों में क्षेत्र की अपेक्षा जहाँ भी विचार किया गया है, वहाँ प्रायः क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन को ग्रहण किया है। यहाँ भी पुद्गलपरावर्तन का अर्थ क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन समझना चाहिये।

इस प्रकार से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के जघन्य, उत्कृष्ट काल एवं पुद्गलपरावर्तन के स्वरूप का निर्देश करने के बाद अब सासादन और मिश्रदृष्टि गुणस्थानों एवं औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व का काल बतलाते हैं।

सासादन, मिश्र गुणस्थान, सम्यक्त्वद्विक का काल

आवलियाणं छक्कं समयादारब्भ सासणो होइ ।

मीसुवसम अंतमुहू खाइयदिट्ठी अणंतद्धा ॥४२॥

शब्दार्थ—आवलियाणं—आवलिका, छक्कं—छह, समयादारब्भ—समय से प्रारम्भ होकर (लेकर), सासणो—सासादन गुणस्थान, होइ—

सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान में वह जीव मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबंधस्थान में मरा, इस प्रकार क्रम से जब समस्त अनुभागबंधस्थानों में मरण कर लेता है तो वह सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन जानना चाहिए। सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन में क्रम से होने वाले मरण को ग्रहण किया जाता है, किन्तु अक्रम से होने वाले अनन्तानन्त मरण गणना में नहीं लिये जाते हैं।

१ दिग्म्बर साहित्य में बताया गया पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप परिशिष्ट में देखिए।

होता है, मीसुवसम—मिश्रदृष्टि गुणस्थान और उपशम सम्यक्त्व, अंतमुह—अन्तर्मुहूर्त, ःइयद्विठ्ठी—क्षायिक सम्यक्त्व, अणंतद्धा—अनन्त काल पर्यन्त ।

गाथार्थ—सासादन गुणस्थान समय से लेकर छह आवलिका पर्यन्त होता है, मिश्रदृष्टि गुणस्थान और औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तथा क्षायिक सम्यक्त्व अनन्त काल पर्यन्त होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में सासादन गुणस्थान का काल बतलाने के प्रसंग में कहा है कि सासादन गुणस्थान एक समय से लेकर छह आवलिका पर्यन्त होता है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि पहले गुणस्थानों का स्वरूप बतलाने के प्रसंग में कहा है कि जिसने सासादन भाव प्राप्त किया है, ऐसा कोई जीव सासादन गुणस्थान में एक समय रहता है, दूसरा कोई दो समय, अन्य कोई तीन समय रहता है, इस प्रकार कोई छह आवलिका पर्यन्त रहता है, उसके बाद मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है । जिससे एक जीव की दृष्टि से सासादन गुणस्थान का काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका होता है ।

‘मीसुवसम अंतमुह’ अर्थात् मिश्रदृष्टि गुणस्थान और उपशम सम्यक्त्व का काल जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है । यानि मिश्रदृष्टि गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल प्रसिद्ध है । मात्र जघन्य पद में अन्तर्मुहूर्त लघु और उत्कृष्ट पद में बड़ा लेना चाहिये ।

औपशमिक सम्यक्त्व जो मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करण करके प्राप्त होता है, उसका अथवा उपशमश्रेणिवर्ती सम्यक्त्व का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । उनमें से पहले प्रकार के उपशम सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त काल इस प्रकार जानना चाहिये कि मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व सहित देशविरत आदि गुणस्थानों में भी जाये तब भी उसका अन्तर्मुहूर्त ही स्थितिकाल है ।

क्योंकि उसके बाद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। उपशम सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नहीं रहता है, जिससे देशविरत आदि गुणस्थानों में अधिक काल रहना हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तथा देशविरति आदि प्राप्त न करे किन्तु मात्र सम्यक्त्व प्राप्त करे तो अन्तर्मुहूर्त के बाद गिरकर कोई सासादनभाव को प्राप्त होता है और कोई क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है तथा उपशमश्रेणि का काल अन्तर्मुहूर्त होने से श्रेणि के उपशम सम्यक्त्व का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। इस तरह दोनों उपशम सम्यक्त्वों का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त का ही घटित होता है। मात्र जघन्य से उत्कृष्ट विशेषाधिक है।

क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तकाल पर्यन्त होता है—‘खाइयदिट्ठी अणंतद्धा’। इसका कारण यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के सम्पूर्ण नाश से उत्पन्न हुआ जीव का शुद्ध स्वरूप होने से प्राप्त होने के बाद किसी भी समय नष्ट नहीं होता है। इसी कारण क्षायिक सम्यक्त्व का काल सादि-अनन्त है।

इस प्रकार से आदि के तीन गुणस्थानों और प्रसंगोपात्त औपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्वों का काल बतलाने के बाद अब चौथे, पांचवें—अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थानों का काल बतलाते हैं।

अविरत और देशविरत गुणस्थान का काल

वेयग अविरयसम्मो तेत्तीसयराइं साइरेगाइं ।

अंतमुहुत्ताओ पुव्वकोडी देसो उ देसूणा ॥४३॥

शब्दार्थ—वेयग—वेदक, अविरयसम्मो—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, तेत्तीसयराइं—तेत्तीस सागरोपम, साइरेगाइं—कुछ अधिक, अंतमुहुत्ताओ—अन्तर्मुहूर्त से, पुव्वकोडी—पूर्वकोटि, देसो—देशविरत, उ—और, देसूणा—देशोन ।

गाथार्थ—वेदक अवलरत सम्यग्दृष्टल जीव अन्तर्मुहूर्त से लेकर कुछ अधलक तेतीस सागरोपम पर्यन्त और देशावरत देशोन-पूर्वकोटल पर्यन्त होता है ।

वलशेषार्थ—गाथा में अवलरत सम्यग्दृष्टल और देशावरत गुणस्थान का काल बतलाने के प्रसंग में पहले चौथे अवलरत सम्यग्दृष्टल गुणस्थान के ललये बतलाया है कल 'वेयग अवलरयसम्मो' अर्थात् क्षायोपशमलक सम्यक्त्वयुक्त अवलरत सम्यग्दृष्टल जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट से कुछ अधलक तेतीस सागरोपम पर्यन्त होता है । जलससे चौथे गुणस्थान का उतना काल घटलत होता है ।

कुछ अधलक तेतीस सागरोपम पर्यन्त क्षायोपशमलक सम्यक्त्व युक्त अवलरत सम्यग्दृष्टल होने का कारण यह है कल कोई प्रथम संहनन वाला जीव नलरतलचार चारलत्र का पालन करके उत्कृष्ट स्थलतल वाले अनुत्तर वलमान में उत्पन्न हो तो वहाँ उसका अवलरत सम्यग्दृष्टलपने में तेतीस सागरोपम प्रमाण काल बीतता है । क्यलकल अनुत्तर वलमान-वासी देवों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम प्रमाण है । तत्पश्चात् वहाँ से च्यवकर मनुष्यभव में आकर जब तक सर्वअवलरतल आदल को प्राप्त न करे तब तक अवलरतल में ही रहता है, जलससे ऐसे स्वरूप वाले वेदक कलसी अवलरत सम्यग्दृष्टल जीव के मनुष्यभव के कुछ वर्ष अधलक तेतीस सागरोपम का काल घटलत होता है ।

इस प्रकार चौथे अवलरत सम्यग्दृष्टल गुणस्थान का काल ज्ञानना चाहलये । अब पांचवें देशावरत गुणस्थान का काल बतलाते हैं ।

देशावरत जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटल पर्यन्त होता है, जलससे पांचवें गुणस्थान का उतना काल है । जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल मानने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कोई अवलरत आदल जीव अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त देशावरत गुणस्थान में रहकर अवलरत आदल को प्राप्त करे या प्रमत्तसंयत आदल गुणस्थानों में जाये तो उसकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त काल घटलत होता है । जघन्य

से भी उतने काल रहकर अविरतपने को या सर्वविरतिभाव को प्राप्त करता है, उससे पूर्व नहीं तथा उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि मानने का कारण यह है कि कोई पूर्वकोटि वर्ष की आयुवाला जीव कुछ अधिक नौ मास गर्भ में रहे और उसके बाद जन्म लेने पर भी आठ वर्षपर्यन्त देशविरति अथवा सर्वविरति को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसका कारण यह है कि आठ वर्ष से कम आयु वाले के तथास्वभाव से देशविरति अथवा सर्वविरति को प्राप्त करने के योग्य परिणाम नहीं होते हैं, जिससे उतने काल पर्यन्त किसी भी प्रकार का चारित्र्य प्राप्त नहीं होता है। यानि उतनी आयु बीतने के बाद जो देशविरति प्राप्त करे उसकी अपेक्षा देशविरत गुणस्थान का देशोन पूर्वकोटि काल घटित होता है, इससे अधिक घटित नहीं होता है। क्योंकि पूर्वकोटि से अधिक आयुवाले जीव भोगभूमिज होते हैं और उनके विरति परिणाम नहीं होते हैं, मात्र आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

इस प्रकार से अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थान का कालप्रमाण बतलाने के बाद अब प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थान का एक जीव की अपेक्षा काल बतलाते हैं।

प्रमत्त, अप्रमत्त संयत गुणस्थान का काल

समयाओ अंतमुहू पमत्ता अपमत्तयं भयंति मुणी ।

देसूण पुव्वकोडि अन्नोन्नं चिट्ठहि भयंता ॥४४॥

शब्दार्थ—समयाओ—एक समय से लेकर, अंतमुहू—अंतमूर्हूर्त पर्यन्त, पमत्त अपमत्तयं—प्रमत्त और अप्रमत्त भाव को, भयंति—सेवन करते हैं, मुणी—मुनि, देसूण—देशोन, पुव्वकोडि—पूर्वकोटि, अन्नोन्नं—परस्पर एक दूसरे को, चिट्ठहि—रहते हैं, भयंता—सेवन करते हुए।

गाथार्थ—मुनि एक समय से लेकर अन्तमूर्हूर्त पर्यन्त प्रमत्त अथवा अप्रमत्त भाव को सेवन करते हैं और परस्पर एक दूसरे गुणस्थान को देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त सेवन करते हुए रहते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में छठे और सातवें गुणस्थान का अपेक्षादृष्टि से काल बतलाया है कि मुनिजन प्रमत्तभाव में अथवा अप्रमत्तभाव में एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहते हैं। तत्पश्चात् यदि प्रमत्त हों तो अवश्य अप्रमत्त गुणस्थान में जाते हैं और अप्रमत्त हों तो प्रमत्त में आते हैं। जिससे प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थानों में से प्रत्येक का जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल है। जिसका आशय यह है—

प्रमत्तमुनि अथवा अप्रमत्तमुनि जघन्य से उस-उस अवस्था में एक समय रहते हैं, तत्पश्चात् मरण संभव होने से अविरतदशा को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव यहाँ जघन्य से एक समय काल मरने वाले की अपेक्षा घटित होता है और यदि मरण को प्राप्त न हों तो अन्तर्मुहूर्त काल होता है। इसी अपेक्षा उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल बतलाया है। तत्पश्चात् प्रमत्त के अवश्य अप्रमत्तता, देशविरतित्व अथवा मरण भी हो सकता है तथा अप्रमत्त के प्रमत्तत्व, कोई भी श्रेणि अथवा देशविरति आदि प्राप्त होती है।

प्रश्न—यह कैसे जाना जा सकता है कि अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रमत्त गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान में और अप्रमत्त गुणस्थान से प्रमत्त गुणस्थान में जाते हैं? देशविरति आदि की तरह दीर्घकाल पर्यन्त ये दोनों गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं?

उत्तर—संकलेशस्थानों में वर्तमान मुनि प्रमत्त और विशुद्धि-स्थानों में वर्तमान मुनि अप्रमत्त होते हैं और ये संकलेश एवं विशुद्धि के स्थान प्रत्येक असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। यथार्थ रूप से मुनिदशा में वर्तमान मुनि जब तक उपशमश्रेणि अथवा क्षपकश्रेणि पर आरोहण न करें तब तक जीवस्वभाव से अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त संकलेश स्थानों^१ में रहकर विशुद्धिस्थानों में आते हैं। तथास्वभाव से दीर्घकाल पर्यन्त न तो संकलेशस्थानों में रहते हैं और न विशुद्धिस्थानों में ही

१ यहाँ जो संकलेशस्थान कहे हैं वे अप्रमत्त की अपेक्षा समझना चाहिए, देशविरति की अपेक्षा तो वे सभी विशुद्धिस्थान ही हैं।

रह सकते हैं। जिससे प्रमत्त और अप्रमत्त भाव में देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त परावर्तन करते रहते हैं। इसी कारण प्रमत्तभाव अथवा अप्रमत्तभाव ये प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त होते हैं, इससे अधिक काल तक नहीं हो सकते हैं। शतकबृहच्चूर्णि में भी यही बताया है—

‘इत्थ संकिलिस्सइ विसुज्जइ वा विरओ अंतमुहुत्तं जाव कालं, न परओ ।
तेणं संकिलिस्संतो संकिलेसठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं जाव पमत्तसंजओ होइ,
विसुज्जंतो विसोहिठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं जाव अपमत्तसंजओ होइ ।’

इस प्रकार संक्लिष्ट परिणाम वाला या विशुद्ध परिणाम वाला मुनि अंतर्मुहूर्त काल पर्यन्त ही हो सकता है, अधिक काल नहीं होता है। जिससे संक्लिष्ट परिणाम वाला प्रमत्त मुनि संक्लेशस्थानों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त और विशुद्ध परिणाम वाला अप्रमत्त मुनि विशुद्धि-स्थानों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है।

प्रश्न—इस प्रकार से प्रमत्त और अप्रमत्तपने में कितने काल तक परावर्तन करते हैं ?

उत्तर—प्रमत्त और अप्रमत्तपने में देशोनपूर्वकोटि पर्यन्त परावर्तन करते हैं। प्रमत्त में अन्तर्मुहूर्त रहकर अप्रमत्त में और अप्रमत्त में अन्तर्मुहूर्त रहकर प्रमत्त में, इस तरह क्रमशः देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त होता रहता है—‘देसूण पुव्वकोडि अन्नोन्नं चिट्ठहि भयंता ।’

यहाँ गर्भ के कुछ अधिक नौ मास और प्रसव होने के बाद आठ वर्ष पर्यन्त जीव स्वभाव में विरति परिणाम वाला न होने से उतना काल पूर्वकोटि आयु में से कम कर देने के कारण यहाँ देशोन—एक देश कम पूर्वकोटि काल ग्रहण किया है।

इस प्रकार से छठे और सातवें—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों के काल का निर्देश करने से अभी तक आदि के सात गुणस्थानों के काल का विचार किया जा चुका है। अब एक जीव की अपेक्षा शेष गुणस्थानों के काल का निरूपण करते हैं।

अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का काल

समयाओ अंतमुह अपुव्वकरणा उ जाव उवसंतो ।

खीणाजोगीणंतो देसस्सव जोगिणो कालो ॥४५॥

शब्दार्थ—समयाओ—एक समय से आरम्भ कर, अंतमुह—अन्तर्मुहूर्त, अपुव्वकरणा—अपूर्वकरण गुणस्थान से, उ—और, जाव—पर्यन्त, तक, उवसंतो—उपशांतमोह गुणस्थान, खीणाजोगीणंतो—क्षीणमोह और अयोगिकेवली गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त, देसस्सव—देशविरत गुणस्थान के तुल्य, जोगिणो—सयोगिकेवली का, कालो—काल ।

गाथार्थ—अपूर्वकरण से आरम्भ कर उपशांतमोह गुणस्थान पर्यन्त के गुणस्थान एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होते हैं । क्षीणमोह और अयोगिकेवली गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होते हैं तथा देशविरत गुणस्थान के तुल्य सयोगिकेवली गुणस्थान का काल है ।

विशेषार्थ—गाथा में तीन विभाग करके आठवें से लेकर चौदहवें तक सात गुणस्थानों का काल बतलाया है । पहला विभाग आठवें अपूर्वकरण से लेकर ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थानपर्यन्त चार गुणस्थानों का है । दूसरे विभाग में बारहवें क्षीणमोह और चौदहवें अयोगिकेवली इन दो गुणस्थानों का समावेश है और तीसरे में सिर्फ सयोगिकेवली गुणस्थान है । इन तीनों में से पहले विभाग के गुणस्थानों का काल बतलाते हैं—

‘अपुव्वकरणा उ जाव उवसंता’ अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर-संपराय, सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोह, इन चार गुणस्थानों का काल एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है । अर्थात् ये गुणस्थान एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होते हैं, इसलिये इनमें से प्रत्येक गुणस्थान का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।

इन गुणस्थानों का जघन्य से एक समय प्रमाण काल मानने का कारण यह है कि कोई एक जीव उपशमश्रेणि में एक समय मात्र अपूर्वकरणत्व का अनुभव करके, दूसरा कोई अनिवृत्तिकरण में आकर

उसका समयमात्र अनुभव कर, अन्य कोई सूक्ष्मसंपराय में आकर उसका समयमात्र स्पर्श कर और अन्य कोई उपशांतमोह गुणस्थान को प्राप्त कर उसका समयमात्र अनुभव कर कालधर्म को प्राप्त हो और दूसरे समय में अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है तो उसके मनुष्यायु के चरम समय पर्यन्त अपूर्वकरणादि गुणस्थान होते हैं और देवपर्याय में उत्पन्न हुए उसको पहले समय में ही अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार उपर्युक्त चार गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान में समयमात्र रहकर कालधर्म को प्राप्त हो तो उस अपेक्षा उन चारों गुणस्थानों का समयमात्र काल संभव है।

अब इन्हीं अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का अन्तर्मुहूर्त काल होना स्पष्ट करते हैं कि इन अपूर्वकरणादि सभी गुणस्थानों का अन्तर्मुहूर्त काल है, अतः अन्तर्मुहूर्त के बाद अन्य गुणस्थानों में जाये अथवा मरण प्राप्त करे तो उससे उनका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त घटित होता है तथा क्षपकश्रेणि में अपूर्वकरणादि प्रत्येक गुणस्थान का एक जैसा अन्तर्मुहूर्त ही काल है। इसका कारण यह है कि क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ जीव समस्त कर्मों का क्षय किये विना मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिये कहा है—‘समयाओ अंतमुहू अपुव्वकरणा उ जाव उवसंतो।’

इस प्रकार से अपूर्वकरणादि उपशांतमोह पर्यन्त चार गुणस्थानों का काल जानना चाहिये। अब दूसरे विभाग में गर्भित क्षीणमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानों के काल का निरूपण करते हैं—

‘खीणाजोगीणतो’ अर्थात् क्षीणमोह गुणस्थान और भवस्थ अयोगिकेवली का अजघन्योत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल है। इसका कारण यह है कि क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव का मरण नहीं होता है, जिससे उस गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रहकर ज्ञानावरण आदि तीन घाति कर्मों का क्षय कर सयोगिकेवली गुणस्थान में जाता है। जिससे उसका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है और भवस्थ अयोगिकेवली पांच ह्रस्वाक्षरों का उच्चारण करते जितना काल होता है, उतने काल वहाँ रहकर समस्त अघाति कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जाते हैं।

जिससे पांच ह्रस्वाक्षर उच्चारण करते जितना समय होता है, उतना उनका काल है। इसीलिये दोनों का अजघन्योत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त बताया है। इस प्रकार क्षीणमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानों का काल जानना चाहिये।

अब तीसरे विभाग में समाविष्ट सयोगिकेवली गुणस्थान का काल बतलाते हैं कि 'देसस्सव जोगिणो कालो' अर्थात् सयोगिकेवली का काल देशविरत गुणस्थान जितना है। यानि पूर्व में देशविरत गुणस्थान का जो जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि प्रमाण काल बतलाया है, उसी प्रकार से इस सयोगिकेवली गुणस्थान का काल भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि काल जानना चाहिये। अन्तर्मुहूर्त काल अन्तर्कृत् केवली की अपेक्षा है और देशोन पूर्वकोटि काल इस प्रकार जानना चाहिये कि पूर्वकोटि की आयु वाला कोई जीव सात मास या नौ मास गर्भ में रहकर जन्म लेने के अनन्तर आठ वर्ष बाद चारित्र प्राप्त कर शीघ्र केवलज्ञान उत्पन्न करे तो ऐसे पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले जीव की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान का देशोन पूर्वकोटि काल संभव है।

पूर्वोक्त प्रकार से एक जीव की उपेक्षा प्रत्येक गुणस्थान के काल का प्रमाण जानना चाहिये। अब कायस्थिति का प्रमाण बतलाते हैं।

एकेन्द्रियादि की कायस्थिति

एगिंदियाणणंता दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिई ।

अयराण इगपणिंदिसु नरतिरियाणं सगट्ठ भवा ॥४६॥

शब्दार्थ—एगिंदियाणणंता—एकेन्द्रियों की अनन्त, दोण्णि—दो, सहस्सा—

- १ जिस समय पूर्व जन्म की आयु पूर्ण होती है, उसके बाद के समय से ही आगामी जन्म की आयु प्रारम्भ हो जाती है। विग्रहगति या गर्भ में जो काल बीतता है, वह आगे के जन्म का ही बीतता है। इसलिए यहाँ जो सात मास या नौ मास गर्भ के और प्रसव के बाद के जो आठ वर्ष कहे हैं, वे पूर्वकोटि के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

सहस्र, हजार, तसाण—त्रसजीवों की, कायठिई—कायस्थिति, अघराण—सागर-पम, इग—एक, पणिदिसु—पंचेन्द्रियों की, नरतिरियाणं—मनुष्य, तिर्यचों की, सगदठभवा—सात-आठ भव ।

गाथार्थ—एकेन्द्रियों की अनन्त सागरोपम सहस्र, त्रस जीवों की दो हजार सागरोपम, पंचेन्द्रियों की एक हजार सागरोपम और मनुष्य तिर्यचों की सात-आठ भव कायस्थिति है ।

विशेषार्थ—गाथा में जाति की अपेक्षा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त, काय की अपेक्षा स्थावर से लेकर त्रस काय के जीवों की और गति की अपेक्षा मनुष्य और तिर्यच की कायस्थिति का विचार किया गया है ।

बार-बार उसी भव में उत्पन्न होना, जैसे कि एकेन्द्रिय में मरकर पुनः-पुनः एकेन्द्रिय होने को, द्वीन्द्रिय में मरकर पुनः-पुनः द्वीन्द्रिय में उत्पन्न होने को कायस्थिति कहते हैं ।

इस प्रकार की कायस्थिति एकेन्द्रियों की अनन्त सागरोपम सहस्र प्रमाण है—‘एगिदियाणणंता’, यानि एकेन्द्रिय अनन्त उत्सर्पिणी अव-सर्पिणी प्रमाणकाल पुनः-पुनः एकेन्द्रिय भव को धारण कर सकते हैं । एकेन्द्रियों की यह अनन्त सागरोपम सहस्र प्रमाण कायस्थिति वनस्पति की अपेक्षा से जानना चाहिये । क्योंकि वनस्पति के सिवाय शेष पृथ्वी-काय आदि सभी की कायस्थिति असंख्यात काल प्रमाण ही है । इस प्रकार से एकेन्द्रियों की कायस्थिति जानना चाहिये ।

अब त्रसकाय की कायस्थिति बतलाते हैं कि ‘दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिई’ अर्थात् बारम्बार त्रसकाय—द्वीन्द्रियादिरूप में उत्पन्न हो तो त्रसों की कायस्थिति दो हजार सागरोपम प्रमाण है और मात्र कुछ वर्ष अधिक समझना चाहिये तथा त्रसों में से भी पंचेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ वर्ष अधिक एक सागरोपम प्रमाण होती है—‘इग पणिदिसु’ ।

पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यचों की उत्कृष्ट कायस्थिति सात अथवा आठ भव की है—‘नरतिरियाणं

सगट्टभवा' । इनमें एक के बाद एक लगातार मनुष्य अथवा तिर्यंच भव हों तो सात भव संख्यात वर्ष की आयु वाले^१ होते हैं और आठवां भव असंख्य वर्ष की आयु वाले भोगभूमियों का ही होता है ।

वह इस प्रकार जानना चाहिये कि पर्याप्त मनुष्य अथवा पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच निरन्तर अनुक्रम से पर्याप्त मनुष्य अथवा तिर्यंच के सात भव अनुभव करके आठवें भव में यदि वह पर्याप्त मनुष्य या पर्याप्त संज्ञी तिर्यंच हो तो अनुक्रम से अवश्य असंख्य वर्ष की आयु वाला युगलिक मनुष्य अथवा युगलिक तिर्यंच होता है, परन्तु संख्यात वर्ष की आयु वाला नहीं होता है और असंख्यात वर्ष की आयु वाले युगलिक मरण कर देवलोक में ही उत्पन्न होने से नौवां भव पर्याप्त मनुष्य या पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच का नहीं होता है । इस कारण पिछले सात भव निरन्तर हों तो संख्यात वर्ष की आयु वाले ही होते हैं । बीच में असंख्य वर्ष की आयु वाला एक भी भव नहीं होता है । क्योंकि असंख्य वर्ष की आयु वाले भव के अनन्तर तत्काल ही मनुष्य भव या तिर्यंच भव असम्भव है । इसी कारण पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच की उत्कृष्ट कायस्थिति सात, आठ भव मानी जाती है ।

ऊपर मनुष्य और तिर्यंच की कायस्थिति सात, आठ भव कही है, उसका उत्कृष्ट से काल-प्रमाण बतलाते हैं—

पुव्वकोडिपुहुत्तां पल्लतियं तिरिनराण कालेणं ।

नाणाइगपज्जत्ता मणूणपल्लसंखंस अंतमूह ॥४७॥

शब्दार्थ—पुव्वकोडिपुहुत्तां—पूर्वकोटि पृथक्त्व, पल्लतियं—तीन पल्य, तिरिनराण—तिर्यंच और मनुष्यों की, कालेणं—काल से, नाणाइगपज्जत्ता—

१ उत्कृष्ट से पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले संख्यात वर्ष की और उससे एक समय भी अधिक आयु वाले असंख्यात वर्ष की आयु वाले माने जाते हैं । आयु के सम्बन्ध में संख्यात और असंख्यात का यह तात्पर्य समझना चाहिए ।

अनेक और एक अपर्याप्तक, मणूण—मनुष्य का, पल्लसंखंस—पल्योपम का असंख्यातवां भाग, अंतमुह—अन्तमुहूर्त ।

गाथार्थ—(पर्याप्त) तिर्यचों और मनुष्यों की स्व-कायस्थिति का काल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है । अनेक और एक अपर्याप्त मनुष्य का काल पल्योपम का असंख्यातवां भाग और अन्तमुहूर्त है ।

विशेषार्थ—पूर्व में जो पर्याप्त मनुष्य और तिर्यच की कायस्थिति सात, आठ भव बताई है, उन भवों का योग इस गाथा में बतलाया है कि वह पूर्वकोटिपृथक्त्व और तीन पल्योपम होता है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब पर्याप्त मनुष्य अथवा पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच पूर्व के सात भवों में पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले हों और आठवें भव में तीन पल्योपम की आयु वाले हों तब उनकी सात करोड पूर्व वर्ष अधिक तीन पल्योपम उत्कृष्ट कायस्थिति काल होता है ।

इस प्रकार से पर्याप्त मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचों की कायस्थिति जानना चाहिये ।

अब अनेक और एक की अपेक्षा अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यचों की कायस्थिति का प्रमाण बतलाते हैं कि अनेक की अपेक्षा अपर्याप्त मनुष्य के रूप में एक के बाद एक के क्रम से निरन्तर उत्पन्न हों तो उनका निरन्तर उत्पन्न होने का काल पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है । यानि इतने काल पर्यन्त वे निरन्तर उत्पन्न हो सकते हैं, उसके बाद अन्तर पड़ता है तथा बार-बार उत्पन्न होते हुए एक अपर्याप्त मनुष्य का काल जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तमुहूर्त है । यानी कोई भी एक अपर्याप्त मनुष्य एक के बाद एक लगातार अपर्याप्त मनुष्य हुआ करे तो उसका जघन्य काल भी अन्तमुहूर्त है और उत्कृष्ट काल भी अन्तमुहूर्त है । वह निरन्तर जितने भव करता है, उन सबका मिलकर काल अन्तमुहूर्त ही होता है ।

इस प्रकार से एकन्द्रिय आदि की कार्यास्थिति बतलाने के बाद अब वेदत्रिक आदि की कायस्थिति बतलाते हैं ।

वेदत्रिक आदि की कायस्थिति

पुरिसत्तं सन्नित्तं, सयपुहुत्तं तु होइ अयराणं ।

थी पलियसयपुहुत्तं, नपुंसगत्तं अणंतद्धा ॥४८॥

शब्दार्थ—पुरिसत्तं—पुरुषत्व का, सन्नित्तं—संज्ञित्व का, सयपुहुत्तं—शतपृथक्त्व, तु—और, होइ—होता है, अयराणं—सागरोपम, थी—स्त्रीत्व का पलियसयपुहुत्तं—पल्योपमशतपृथक्त्व, नपुंसगत्तं—नपुंसकत्व का, अणंतद्धा—अनन्त काल ।

गाथार्थ—पुरुषत्व और संज्ञित्व का काल सागरोपम शतपृथक्त्व है । स्त्रीत्व का शतपृथक्त्व पल्योपम और नपुंसकत्व का अनन्त काल है ।

विशेषार्थ—गाथा में वेदत्रिक और संज्ञित्व की कायस्थिति का काल बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पुरुषवेद का निरन्तरकाल यानि बीच में किंचिन्मात्र भी अन्तर पड़े बिना निरन्तर पुरुषत्व—पुरुषवेदत्व प्राप्त हो तो जघन्य से अन्त-मुहूर्त^१ और उत्कृष्ट से सागरोपम शतपृथक्त्व है । तत्पश्चात् अवश्य ही वेदान्तर हो जाता है । परन्तु यह विशेष समझना चाहिये कि ये शतपृथक्त्व सागरोपम कुछ वर्ष अधिक सहित हैं । अर्थात् यदि निरन्तर पुरुषत्व की प्राप्ति हो तो उसका काल कुछ वर्ष अधिक शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण है तथा इसी प्रकार संज्ञित्व का—समनस्कपने का भी निरन्तरकाल जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से शतपृथक्त्व

१ उसी पुरुषवेदी की अपेक्षा पुरुषवेद का जघन्य काल घटित नहीं होता है । किन्तु अन्यवेदी की अपेक्षा घट सकता है । क्योंकि अन्य वेद वाला पुरुषवेद में आकर अन्तमुहूर्त रहकर मर जाये और फिर अन्यवेद में उत्पन्न हो । अन्तमुहूर्त से आयु अल्प होती नहीं है । जिससे उसका जघन्य काल अन्तमुहूर्त बताया जाता है ।

सागरोपम प्रमाण है। अर्थात् लगातार संज्ञित्व की प्राप्ति होती रहे, असंज्ञी में न जाये तो उत्कृष्ट काल शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण है, उसके बाद अवश्य ही असंज्ञीपना प्राप्त होता है। यहाँ भी पुरुषवेद की उत्कृष्ट कायस्थिति की तरह शतपृथक्त्व सागरोपम कुछ वर्ष अधिक समझना चाहिये।

स्त्रीवेद निरन्तर प्राप्त हो तो जघन्य से एक समय^१ और उत्कृष्ट से पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम पर्यन्त प्राप्त होता है। जीव यदि निरन्तर एक के बाद एक लगातार स्त्रीवेदी ही हो तो जघन्य और उत्कृष्ट से उपर्युक्त काल सम्भव है, तत्पश्चात् अवश्य ही वेदान्तर होता है। निरन्तर जघन्य से एक समय प्रमाण काल होने का कारण यह है कि कोई एक स्त्री उपशमश्रुणि में तीनों वेद के उपशम द्वारा अवेदिपना अनुभव कर श्रुणि से गिरते हुए एक समय मात्र स्त्रीवेद का अनुभव कर दूसरे समय में मरण कर देवलोक में उत्पन्न हो और श्रुणि में कालधर्म (मरण) को प्राप्त करने वाला अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है और वहाँ पुरुषत्व ही प्राप्त होने से, उसकी अपेक्षा स्त्रीवेद का जघन्य काल एक समय घटित होता है।^२

नपुंसकत्व का निरन्तर काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल है। जघन्य एक समय काल तो स्त्रीवेद के समान और उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गलपरावर्तन प्रमाण अनन्त काल सांख्यवहारिक

१ वेद की स्वकायस्थिति में द्रव्यवेद की विवक्षा है, भाव की नहीं। क्योंकि भाववेद अन्तर्मुहूर्त में बदल जाता है। फिर भी स्त्रीवेद का जघन्य स्वकाय स्थितिकाल बताते हुए भाववेद लिया हो, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि उसके सिवाय एक समय घटित नहीं होता है।

२ आर्य श्यामाचार्य द्वारा प्रदर्शित स्त्रीवेद सम्बन्धी उत्कृष्ट स्थिति विषयक पूर्वाचार्यों के मतान्तरों को परिशिष्ट में देखिये।

जीवों की अपेक्षा समझना चाहिये।^१ क्योंकि अनादि निगोद में से सांव्यवहारिक जीवों में आकर पुनः असांव्यवहारिक जीवों में जाये तो वे उसमें असंख्य पुद्गलपरावर्तन पर्यन्त ही रहते हैं।

असांव्यवहारिक जीवों की अपेक्षा अनन्त काल दो प्रकार का है। जो असांव्यवहारिक राशि में से निकलकर किसी समय भी सांव्यवहारिक राशि में आने वाले नहीं हैं, वैसे कितने ही जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त काल है। ऐसे भी अनन्त सूक्ष्म निगोद जीव हैं, जो वहाँ से निकले नहीं हैं और निकलेंगे भी नहीं तथा जो असांव्यवहारिक राशि में से निकलकर सांव्यवहारिक राशि में आयेंगे, वैसे कितने ही जीवों की अपेक्षा अनादि-सांत काल है। यहाँ जो आयेंगे ऐसा कहा गया है, वह प्रज्ञापक कालभावी सांव्यवहारिक राशि में वर्तमान जीवों की अपेक्षा कहा है। अन्यथा जो असांव्यवहारिक राशि में से निकलकर सांव्यवहारिक राशि में आये, आते हैं और आयेंगे, उन सबके नपुंसकवेद का काल अनादि-सांत होता है।

प्रश्न—असांव्यवहारिक राशि में से निकलकर जीव क्या सांव्यवहारिक राशि में आते हैं ?

उत्तर—जीवों के असांव्यवहारिक राशि में से निकलकर सांव्यवहारिक राशि में आने के बारे में पूर्वाचार्यों के वचन प्रमाण हैं। जैसे कि आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने विशेषणवती ग्रन्थ में कहा है—

३ यहाँ पुरुषत्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व द्रव्य सम्बन्धी लेना चाहिये। यानि पुरुषादि का आकार निरन्तर इतने काल प्राप्त होता है। तत्पश्चात् आकार अवश्य बदल जाता है। यदि यह कहा जाये कि एक भव से दूसरे भव में जाते हुए तो कोई आकार होता नहीं है तो फिर उक्त काल कैसे घट सकता है ? तो इसका उत्तर है कि शरीर होने के बाद अवश्य होने वाला है। इसलिए यह कथन अयुक्त नहीं है।

सिञ्जन्ति जत्तिया किर इह संबवहारजीवरासीओ ।
इंति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तंमि ॥

अर्थात् सांख्यवहारिक राशि में से जितने जीव मोक्ष में जाते हैं, उतने जीव अनादि वनस्पति राशि में से—सूक्ष्म निगोदराशि में से सांख्यवहारिक राशि में आते हैं ।

इस प्रकार से वेदत्रिक और संज्ञित्व की कायस्थिति का निर्देश करने के बाद अब बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय आदि की कायस्थिति को बतलाते हैं ।

बादर पर्याप्त एकेन्द्रियादि की कायस्थिति

बायरपज्जेगिंदिय विगलाण य वाससहस्स संखेज्जा ।

अपज्जंतसुहुमसाहारणाण पत्तेगमंतमुहू ॥४६॥

शब्दार्थ—बायर—बादर, पज्जेगिंदिय—पर्याप्त एकेन्द्रिय, विगलाण—विकलेन्द्रियों की, य—और, वाससहस्स—हजार वर्ष, संखेज्जा—संख्यात, अपज्जंत—अपर्याप्त, सुहुमसाहारणाण—सूक्ष्म, साधारण की, पत्तेगं—प्रत्येक, अंतमुहू—अन्तमुहूर्त ।

गाथार्थ—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों की कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष है और अपर्याप्त, सूक्ष्म और साधारण इन प्रत्येक की कायस्थिति अन्तमुहूर्त है ।

विशेषार्थ—गाथा में बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण जीवों की कायस्थिति का प्रमाण बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

बारम्बार पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय रूप से उत्पन्न होने वाले पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय की कायस्थिति जघन्य से अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट से संख्यात हजार वर्ष की है । यह बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय की कायस्थिति का विचार सामान्य बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय की अपेक्षा से किया गया है । लेकिन बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय, बादर

पर्याप्त जलकाय एकेन्द्रिय आदि, इस प्रकार एक-एक की अपेक्षा विचार करें तो उनकी कायस्थिति इस प्रकार है—

कोई जीव बारम्बार पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय हो तो उस रूप में उत्पन्न होते हुए पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय की कायस्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात वर्षसहस्र की है। इसी प्रकार बादर पर्याप्त जलकाय, बादर पर्याप्त वायुकाय और पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की भी स्व-कायस्थिति जानना चाहिए तथा बादर पर्याप्त तेजस्काय की जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात रात्रि दिन की जानना चाहिये।

विकलेन्द्रियों—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों में से प्रत्येक की कायस्थिति का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात हजार वर्ष है। इस प्रकार सामान्य विकलेन्द्रियों की स्व-कायस्थिति का काल समझना चाहिये, किन्तु पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि का पृथक्-पृथक् विचार करें तो उनका कायस्थिति काल इस प्रकार जाना चाहिए कि बारबार पर्याप्त द्वीन्द्रिय रूप से उत्पन्न होने वाले पर्याप्त द्वीन्द्रिय की कायस्थिति का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात वर्ष का है। पर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात रात्रि दिन का है और पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात मास का है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी सातों अपर्याप्तकों का कायस्थिति काल जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त है तथा सामान्य से सूक्ष्म पृथ्वीकायादि, साधारण—पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद और पर्याप्त अपर्याप्त बादर निगोद, इनमें से प्रत्येक भेद का कायस्थिति काल जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त है।

यदि पर्याप्त अपर्याप्त रूप विशेषण की अपेक्षा किये बिना सामान्य से सूक्ष्मों की कायस्थिति के काल का विचार करें तो इस प्रकार है—

बारम्बार सूक्ष्म पृथ्वीकाय रूप में उत्पन्न होते हुए सूक्ष्म पृथ्वीकाय का कायस्थिति काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जानना चाहिये। इसी प्रकार से सूक्ष्म जलकाय, सूक्ष्म तेजस्काय, सूक्ष्म वायुकाय और सूक्ष्म वनस्पतिकाय का भी कायस्थिति काल समझना चाहिये।

इस प्रकार से बादर पर्याप्त एकेन्द्रियादि की कायस्थिति का काल बतलाने के बाद अब प्रत्येक और बादर की स्व-कायस्थिति बतलाते हैं।

पत्तेय बायरस्स उ परमा हरियस्स होइ कायठिई ।

ओसप्पिणी असंखा साहारत्तं रिउगइयत्तं ॥५०॥

शब्दार्थ—पत्तेय—प्रत्येक, बायरस्स—बादर की, उ—और, परमा—उत्कृष्ट, हरियस्स—वनस्पति की, कायठिई—कायस्थिति, ओसप्पिणी—उत्सर्पिणी, असंखा—असंख्यात, साहारत्तं—आहारकत्व, रिउगइयत्तं—ऋजुगतित्व।

गाथार्थ—बादर और बादर वनस्पतिकाय इनमें से प्रत्येक की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है। आहारकत्व और ऋजुगतित्व का भी इतना ही काल है।

विशेषार्थ—गाथा में बादर और वनस्पतिकाय तथा आहारकत्व और ऋजुगतित्व की कायस्थिति का काल बतलाया है। इनमें से पहले बादर और बादर वनस्पतिकाय का कायस्थिति काल स्पष्ट करते हैं।

गाथा में आगत 'पत्तेय'—प्रत्येक^१ यह पृथक्—भिन्न पद है, समस्त

१ स्वोपज्ञवृत्ति में प्रत्येक और बादर ये दोनों वनस्पतिकाय के विशेषण लिये है। वहाँ बताया है कि पर्याप्त अपर्याप्त विशेषणरहित प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय की स्वकाय स्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण है।

आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार बादर और वनस्पतिकाय भिन्न-भिन्न लिये हैं और बादर वनस्पतिकाय में साधारण और प्रत्येक इन दोनों का ग्रहण किया है।

पद नहीं है। यदि समस्त —समासांत पद माना जाये तो वनस्पतिकाय का विशेषण होगा और तब उससे प्रत्येक वनस्पतिकाय की स्व-काय-स्थिति का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु यहाँ प्रत्येक वनस्पतिकाय की अपेक्षा स्व-कायस्थिति का विचार नहीं किया गया है, सामान्य से बादर और बादर वनस्पतिकाय की स्व-कायस्थिति बतलाई है। अतएव इसका तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य से बादर काय की तथा बादर का सम्बन्ध वनस्पति के साथ भी होने से बादर वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल है और इन दोनों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। अर्थात् यदि कोई जीव लगातार एक के बाद एक बादर का भव ग्रहण करे, सूक्ष्म न हो तो उसकी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कायस्थिति समझना चाहिये। इसी प्रकार कोई जीव बादर वनस्पतिकाय होता रहे तो उसकी भी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी उत्कृष्ट कायस्थिति और जघन्य अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिये।

पूर्वाक्त के अनुरूप ही आहारकत्व और ऋजुगतित्व का भी काल समझना चाहिये अर्थात् यदि आहारीपना निरन्तर प्राप्त हो तो जघन्य से दो समय न्यून एक क्षुल्लकभव प्रमाण^१ और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण काल है।

तात्पर्य यह है कि लगातार ऋजुगति हो, वक्रगति न हो तो (क्योंकि ऋजुगति में जीव आहारी ही होता है) इतना निरन्तर आहारीपना

- १ यहाँ आहारीपने का जघन्यकाल दो समय न्यून क्षुल्लकभव प्रमाण कहा है। उसका कारण यह है कि कम से कम क्षुल्लकभव प्रमाण आयु होती है, जिससे उतना काल लिया है और दो समय न्यून इसलिये लिया है कि एक भव से दूसरे भव में जाता हुआ जीव विग्रहगति में ही अनाहारी होता है। विग्रहगति परभव में जाते समय दो समय या तीन समय होती हैं। उसमें आदि के एक या दो समय अनाहारीपना होता है। यहाँ जघन्य से आहारीपने का काल कहा जा रहा है, जिससे दो समय न्यून क्षुल्लकभव कहा है।

ऋजुगति से परभव में जाते समय होता है। किन्तु विग्रहगति में अनाहारकत्व होने से विग्रहगति से जाते हुए नहीं होता है। इसीलिये वक्रगति न हो और लगातार एक के बाद एक के क्रम से ऋजुगति हो तो उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल होता है।

इसी प्रकार से ऋजुगतिपने का उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल समझना चाहिये। क्योंकि वक्रगति न हो और एक के बाद एक निरंतर ऋजुगति हो तो असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल पर्यन्त सम्भव होती है।

अब बादर एकेन्द्रियादि की कायस्थिति बतलाते हैं—

मोहठिइ बायराणं सुहुमाण असंख्या भवे लोगा ।

साहारणेसु दोसद्वपुगला निव्विसेसाणं ॥५१॥

शब्दार्थ—मोहठिइ—मोहनीय की स्थिति, बायराणं—बादर पृथ्वी-काय आदि की, सुहुमाण—सूक्ष्म की, असंख्या—असंख्यात भवे—है, लोगा—लोकप्रमाण, साहारणेसु—साधारण की, दोसद्वपुगला—अढ़ाई पुद्गलपरावर्तन, निव्विसेसाणं—सामान्य से।

गाथार्थ—सामान्य से सभी बादर पृथ्वीकाय आदि की उत्कृष्ट कायस्थिति मोहनीय की (उत्कृष्ट) स्थिति प्रमाण, सूक्ष्म की असंख्यात लोक प्रमाण और साधारण की अढ़ाई पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है।

विशेषार्थ—गाथा में बादर एकेन्द्रिय आदि की कायस्थिति बतलाने के प्रसंग में पहले यह स्पष्ट करते हैं कि यथाप्रसंग किस शब्द से किसकी विवक्षा करना चाहिये ! जैसेकि गाथागत मोह शब्द से दर्शनमोहनीय कर्म की विवक्षा की गई है और सामान्य से कहे गये बादर पद से बादर पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा प्रत्येक और साधारण वनस्पति को ग्रहण करना चाहिये, लेकिन सामान्य से बादर या बादर वनस्पतिकाय नहीं समझना चाहिये। क्योंकि इन दोनों की कायस्थिति पूर्व में बतलाई जा चुकी है।

इस प्रकार आवश्यक निर्देश करने के बाद अब बादर पृथ्वीकाय आदि की कायस्थिति बतलाते हैं—

पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण रहित बादर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक और साधारण वनस्पतिकाय की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितनी सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

‘सुहुमाण असंख्या भवे लोगा’ अर्थात् बारम्बार सूक्ष्म रूप से उत्पन्न होने वाले पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण रहित सूक्ष्म पृथ्वीकाय आदि की कायस्थिति काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात लोकाकाश में विद्यमान आकाश प्रदेशों में से समय-समय एक-एक का अपहार करते जितनी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी हों, उतना है । पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण विशिष्ट पृथ्वीकायादि की कायस्थिति पूर्व में बताई जा चुकी है । अतएव यहाँ सामान्य से ही समझना चाहिये ।

सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त या अपर्याप्त इनमें से किसी भी विशेषण से रहित साधारण (निगोदिया जीव) की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अढ़ाई पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है ।^१

जब सामान्य से सूक्ष्म निगोद सम्बन्धी कायस्थिति का विचार करते हैं तब असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण काल है और सामान्य से बादर निगोद की अपेक्षा विचार करते हैं तब सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कायस्थिति है तथा पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की अपेक्षा अथवा अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद की अपेक्षा, इस प्रकार भिन्न-भिन्न रीति से विचार करते हैं तब जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कायस्थिति है । इसी प्रकार बादर निगोद के लिये भी समझना चाहिये ।

१ यह निगोद की कायस्थिति सांख्यव्यवहारिक जीवों की अपेक्षा जानना चाहिये । बारम्बार निगोदिया रूप से उत्पन्न होने वाले असांख्यव्यवहारिक जीवों की कायस्थिति तो अनादि है ।

यदि वनस्पति की अपेक्षा सामान्य से विचार करें तो उसकी असंख्यात पुद्गलपरावर्तन प्रमाण कायस्थिति है ।

इस प्रकार जीव भेदों की अपेक्षा उन-उनकी कायस्थिति का काल जानना चाहिये ।^१ अब पहले जो एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों का काल कहा है, उसी को अनेक जीवों की अपेक्षा कहते हैं ।

अनेक जीवापेक्षा गुणस्थानों का काल

सासणमीसाओ ह्वंति सन्तया पलियसंखइगकाला ।

उवसामग उवसंता समयाओ अंतरमुहुत्तं ॥५२॥

खवगा खीणाजोगी होंति अणिच्चावि अंतरमुहुत्तं ।

नाणा जीवे तं चिय सत्ताहिं समएहिं अब्भहियं ॥५३॥

शब्दार्थ—सासण—सासादन, मीसाओ—मिश्रदृष्टि, ह्वंति—होते हैं, सन्तया—निरन्तर, पलियसंख—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण, इगकाला—एक जीव के काल प्रमाण, उवसामग—उपशमक, उवसंता—उपशांतमोह, समयाओ—एक समय से लेकर, अंतरमुहुत्तं—अंतमुहूर्त पर्यन्त ।

खवगा—क्षपक, **खीणाजोगी—**क्षीणमोही और अयोगिकेवली, **होंति—**होते हैं, **अणिच्चावि—**अनित्य हैं फिर भी, **अंतरमुहुत्तं—**अन्तमुहूर्त पर्यन्त, **नाणा—**अनेक, **जीवे—**जीवों की अपेक्षा, **तं चिय—**उसी प्रकार, **सत्ताहिं—**सात, **समएहिं—**समय से, **अब्भहियं—**अधिक ।

गाथार्थ—सासादन और मिश्रदृष्टि निरन्तर उत्कृष्ट और जघन्य से क्रमशः पल्योपम के असंख्यातवें भाग और एक जीव के कालप्रमाण कालपर्यन्त तथा उपशमक और उपशांतमोह एक समय से लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त होते हैं ।

१. प्रज्ञापनासूत्रगत सम्बन्धित कायस्थिति का वर्णन परिशिष्ट में देखिये ।

क्षपक, क्षीणमोही और अयोगिकेवली अनित्य हैं, फिर भी जब होते हैं तब अन्तर्मुहूर्त काल और अनेक जीवों की अपेक्षा सात समय अधिक अन्तर्मुहूर्त काल होते हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में अनेक जीवों की अपेक्षा गुणस्थानों के निरन्तरकाल का निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सासादनसम्यग्दृष्टि और मिश्रदृष्टि ये दोनों गुणस्थान निरन्तर उत्कृष्ट से क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल पर्यन्त होते हैं और जघन्य से जैसा पूर्व में एक जीव की अपेक्षा सासादन का एक समय और मिश्र गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त जघन्य काल बताया है, उतना ही काल अनेक जीवों की अपेक्षा भी जानना चाहिये ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनेक जीव यदि सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करें तो उसका जघन्यकाल एक समय है । क्योंकि उपशम सम्यक्त्व का जघन्य काल एक समय शेष रहने पर कोई जीव अनन्तानुबंधिकषाय के उदय से वहाँ से गिरकर एक समय प्रमाण सासादन गुणस्थान में रहकर मिथ्यात्व गुणस्थान में जाये और दूसरे समय कोई भी जीव सासादन गुणस्थान में न आये तो उसकी अपेक्षा जघन्य एक समय काल घटित होता है और यदि निरन्तर अन्य-अन्य जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त करें तो उत्कृष्ट से क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जो आकाश प्रदेश हैं, उनका प्रतिसमय अपहार करते-करते जितना काल हो, उतना काल यानी असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल घटित होता है । तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है ।

इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का अनेक जीवों की अपेक्षा निरन्तरकाल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है । अर्थात् यदि अनेक जीव निरन्तर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त करें तो उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है । क्योंकि तीसरे गुणस्थान का जघन्य से उतना ही काल है और उत्कृष्ट से क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे हुए प्रदेशों

का समय-समय अपहार करते-करते जितना काल हो, उतना काल घटित होता है। दूसरे-दूसरे जीव उस गुणस्थान को प्राप्त करें तो उतने काल करते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

उपशमक—उपशमश्रेणिवर्ती अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोह गुणस्थानों में से प्रत्येक का निरन्तर काल जघन्य एक समय है। क्योंकि एक या अनेक जीव अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में आकर उस उस गुणस्थान को एक समय मात्र स्पर्श कर मरण को प्राप्त करें और अन्य जीव उसमें प्रविष्ट न हों तो जघन्य एक समय काल घटित होता है और निरन्तर अन्य अन्य जीव उस उस गुणस्थान को प्राप्त करें तो उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त ही प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है।

क्षपक—क्षपकश्रेणि वाले अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय तथा क्षीणमोही और भवस्थ अयोगिकेवली आत्मायें अनित्य हैं अर्थात् उन गुणस्थानों में होती भी हैं और नहीं भी होती हैं। परन्तु जब होती है तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होती हैं। क्योंकि उस उस गुणस्थान का उतना उतना काल है।

क्षपकश्रेणि एवं क्षीणमोह गुणस्थान में कोई भी जीव मरण को प्राप्त नहीं होता है और चौदहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रहकर अघाति कर्मों का क्षय कर मोक्ष में जाता है। यानि उपशमश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि की तरह क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि का जघन्य काल नहीं होता है।

अनेक जीवों की अपेक्षा भी क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि गुणस्थान यदि निरन्तर भी हों तो अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त ही होते हैं, तदनन्तर अवश्य अन्तर पड़ता है। क्योंकि सम्पूर्ण क्षपकश्रेणि का निरन्तर काल अन्तर्मुहूर्त ही है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि एक जीवाश्रित अन्तर्मुहूर्त से अनेक जीवाश्रित अन्तर्मुहूर्त सात समय अधिक है।

मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्त-संयत और सयोगिकेवली ये छह गुणस्थान नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल होते हैं। जिससे नाना जीवों की अपेक्षा इन छह गुणस्थानों का काल सुप्रतीत है और एक जीव की अपेक्षा इनका काल पूव में कहा जा चुका है।

इस प्रकार भवस्थिति, कायस्थिति और गुणस्थानों में एक जीव एवं अनेक जीवों का अवस्थान काल कहने के बाद अब एकेन्द्रियादि जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा निरन्तर उत्पत्ति का कालमान कहते हैं।

अनेक जीवापेक्षा एकेन्द्रियादि में निरन्तर उत्पत्तिकाल

एगिंदित्तं सययं तसत्ताणं सम्मदेसचारित्तं ।

आवलियासंखंसं अडसमय चरित्त सिद्धी य ॥५४॥

शब्दार्थ—एगिंदित्तं—एकेन्द्रियत्व, एकेन्द्रियपना, सययं—निरन्तर, तसत्ताणं—त्रसपना, सम्मदेसचारित्तं—सम्यक्त्व, देशविरति चारित्र, आवलिया-संखंसं—आवलिका के असंख्यातवें भाग-प्रमाण, अडसमय—आठ समय, चरित्त—सर्वविरति चारित्र, सिद्धी—सिद्धत्व, य—और।

गाथार्थ—एकेन्द्रियत्व निरन्तर होता है। त्रसपना, सम्यक्त्व, देशविरति चारित्र, आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल पर्यन्त तथा सर्वविरति चारित्र और सिद्धत्व निरन्तर आठ समय पर्यन्त होता है।

विशेषार्थ—गाथा में अनेक जीवों की अपेक्षा ज.वभेदों और गुण-स्थानों में निरन्तर उत्पत्ति का कालमान बतलाया है। पहले जीवभेदों में उत्पत्तिकाल बतलाते हैं।

अनेक जीवों की अपेक्षा एकेन्द्रिय रूप से उत्पत्ति निरन्तर होती है। अर्थात् एकेन्द्रिय रूप से उत्पन्न हुई आत्माएँ हमेशा होती हैं। उनका विरहकाल नहीं है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय । इन पृथ्वीकाय आदि एक-एक भेद में जीव सर्वदा उत्पन्न होते हुए प्राप्त होते हैं, तब सामान्यतः एकेन्द्रिय जीवों में निरन्तर उत्पत्ति होते रहना स्वतः सिद्ध है ।

प्रश्न—पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक हमेशा उत्पन्न होते हैं, यह कैसे जाना जाये ?

उत्तर—सूत्र-आगम वचन से जानना चाहिए । तत्सम्बन्धी सूत्र इस प्रकार है—

‘पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं अविरहिया उववाएणं पन्नत्ता ? गोयमा ! अणुसमयं अविरहिया उववाएणं पन्नत्ता । एवं आउकाइयावि तेउकाइयावि वाउकाइयावि वणस्सइकाइयावि अणुसमयं अविरहिया उववाएणं पन्नत्ता ।’

अर्थात्—हे भदन्त ! पृथ्वीकाय जीव अविरह-निरन्तर कितने काल तक उत्पन्न होते हैं ? हे गौतम ! विरहबिना निरन्तर प्रत्येक समय उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय भी प्रत्येक समय में लगातार निरन्तर उत्पन्न होते हैं ?

प्रश्न—यदि ये पृथ्वीकाय आदि जीव प्रत्येक समय उत्पन्न होते तो प्रतिसमय कितने उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—पृथ्वी, अप्, तेज और वायु के जीव प्रत्येक समय असंख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण उत्पन्न हाते हैं । कहा है—

चयणुववाओ एंगिदिएसु अविरहिय मेव अणुसमयं ।

हरियाणता लोणा सेसा काया असंखेज्जा ॥

अर्थात् एकेन्द्रियों में विरहबिना ही प्रतिसमय मरण और जन्म होता है । वनस्पतिकाय अनन्त लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और शेष चार काय असंख्यात लोकप्रमाण जन्मते हैं और मरते हैं ।

‘तसत्तणं’ अर्थात् त्रसत्व रूप से निरन्तर उत्पन्न हों तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण

काल पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है। तात्पर्य यह हुआ कि उतना काल जाने के बाद कोई भी जीव अमुक-काल पर्यन्त त्रसरूप से उत्पन्न नहीं होता है।

त्रसपने का उक्त काल सामान्यतः जानना चाहिये परन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, संमूर्च्छिम मनुष्य, अप्रतिष्ठान नरकावास के नारकों को छोड़कर शेष नारक और अनुत्तरदेवों से शेष सब देव प्रत्येक निरन्तर उत्पन्न हों तो जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण काल पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है।

सम्यक्त्व और देशविरत चारित्र को अनेक जीव यदि निरन्तर प्राप्त करें तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल पर्यन्त प्राप्त करते हैं। उसके बाद अमुक समय का अवश्य अंतर पड़ता है तथा सर्वथा पापव्यापार का त्याग रूप आत्मपरिणाम, उस रूप जो चारित्र जो कि मूलगुण और उत्तर गुण के आसेवन रूप लिंग द्वारा गम्य है, उसको तथा समस्त कर्मों का नाश होने से प्राप्त यथास्थित आत्मस्वरूप रूप जो सिद्धत्व उसको अनेक जीव प्राप्त करें तो जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय पर्यन्त प्राप्त करते हैं। उसके बाद अवश्य अंतर पड़ता है तथा उपशमश्रेणि आदि के निरन्तर प्राप्त होने का समयप्रमाण इस प्रकार जानना चाहिये—

उवसमसेढी उवसंतया य मणुयत्तणुत्तरसुरत्ता ।

पडिवज्जंते समया संखेया खवगसेढी य ॥५५॥

शब्दार्थ—उवसमसेढी—उपशमश्रेणि, उवसंतया—उपशांतता, य—और, मणुयत्तणुत्तरसुरत्ता—मनुष्यत्व और अनुत्तरदेवत्व, पडिवज्जंते—प्राप्त करते हैं, समया—समय, संखेया—संख्यात, खवगसेढी—क्षपकश्रेणि, य—और ।

गाथार्थ—उपशमश्रेणि, उपशांतता, मनुष्यत्व, अनुत्तर-देवत्व और क्षपकश्रेणि इन सबको संख्यात समय पर्यंत प्राप्त करते हैं ।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणि, उपशांतता—उपशांतमोह गुणस्थान, पंचेन्द्रिय गर्भज मनुष्यत्व, अनुत्तर विमानों का देवपना और उपलक्षण से अप्रतिष्ठान—सातवीं नरकपृथ्वी के इन्द्रक नरकावास का नारकत्व तथा क्षपकश्रेणि इन सबको अनेक जीव निरन्तर प्राप्त करें तो जघन्य से समयमात्र प्राप्त करते हैं । एक या अनेक जीव उन-उन को प्राप्त कर दूसरे समय कोई भी जीव उन-उन को प्राप्त न करें तो उनकी अपेक्षा जघन्य काल घटित होता है और उत्कृष्ट से संख्यात समय पर्यन्त प्राप्त करते हैं । उसके बाद अन्तर पड़ता है । क्योंकि इन सब को प्राप्त करने वाले गर्भज मनुष्य ही हैं और वे संख्यात ही है । यद्यपि अप्रातिष्ठान नरकावास में तिर्यच भी जाते हैं परन्तु वह नरकावास मात्र लाख योजन का ही होने से उसमें संख्यात ही नारकी होते हैं, इसलिये तिर्यच, मनुष्यों में से जाने वाले भी संख्यात ही होते हैं एवं वहाँ जाने का निरन्तरकाल उत्कृष्ट से संख्यात समय का ही है तथा गर्भज मनुष्य में यद्यपि चाहे जिस किसी भी गति में से आया जा सकता है, परन्तु गर्भज मनुष्यों की संख्या संख्यात प्रमाण होने से आने वाले जीव भी संख्यात ही समझना चाहिये ।

अब पहले जो यह कहा गया है कि निरन्तर आठ समय पर्यन्त सिद्धत्व प्राप्त करने वाले प्राप्त होते हैं तो उनमें आठ समय पर्यन्त कितने मोक्ष में जाते हैं, उसी प्रकार सात, छह आदि समय पर्यन्त कितने मोक्ष में जाते हैं ? जिज्ञासु के एतद्विषयक प्रश्न का समाधान और विशेष निर्णय करने के लिये बतलाते हैं—

बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तारी य चुलसीई ।

छन्नउइ दुअट्ठसयं एगाए जहुत्तारे समए ॥५६॥

शब्दार्थ—बत्तीस—बत्तीस, अडयाला—अडतालीस, सट्ठी—साठ, बावत्ती—बहत्तर, घ—और, चुलसीई—चौरासी, छन्नउइ—छियानवै, दुअट्ठसयं—एक सौ दो और एक सौ आठ, एगाए—एक आदि, जहुत्तरे—अनुक्रम से, समए—समयों में ।

गाथार्थ—बत्तीस, अडतालीस, साठ, बहत्तर, चौरासी, छियानवै, एक सौ दो और एक सौ आठ जीव अनुक्रम से एकादि समयों में मोक्ष जाते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में एक से लेकर आठ समय पर्यन्त जघन्य और उत्कृष्ट से जीवों के मोक्ष में जाने की संख्या का प्रमाण बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक से बत्तीस संख्या प्रमाण जीव निरन्तर आठ समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं । अर्थात् पहले समय में जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से बत्तीस मोक्ष में जाते हैं । दूसरे समय में जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से बत्तीस मोक्ष में जाते हैं । इसी प्रकार तीसरे, चौथे यावत् आठवें समय में भी जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से बत्तीस जीव मोक्ष में जाते हैं । तत्पश्चात् अवश्य ही अन्तर पड़ता है । नौवें समय में कोई भी मोक्ष में नहीं जाता है ।

इसी प्रकार तेतीस से अडतालीस तक की कोई भी संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से सात समय तक मोक्ष में जाते हैं । तत्पश्चात् अवश्य अंतर पड़ता है ।

उनचास से साठ तक की कोई भी संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से छह समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अंतर पड़ता है ।

इकसठ से बहत्तर की कोई भी संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से पांच समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है ।

तिहत्तर से चौरासी तक की संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से चार समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है ।

पचासी से छियानवै तक की संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर तीन समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

सत्तानवै से एक सौ दो तक की संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर दो समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, तदनन्तर अवश्य अन्तर पड़ता है।

एक सौ तीन से एक सौ आठ तक की कोई भी संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर एक समय पर्यन्त ही मोक्ष में जाते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है।

गाथा में अनुक्रम से एक से लेकर आठ समय पर्यन्त जो संख्या का प्रतिपादन किया है, वह पश्चानुपूर्वी से समय की संख्या समझना चाहिए। अतएव उसका अर्थ यह हुआ है कि एक सौ तीन से एक सौ आठ तक की कोई भी संख्या में जीव एक समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं। सत्तानवै से एक सौ दो तक की कोई भी संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर दो समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं। इसी प्रकार यावत् एक से बत्तीस तक की कोई भी संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर आठ समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं। उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

इस प्रकार सविस्तार कालद्वार का विवेचन पूर्ण करने के बाद अब अन्तरद्वार का निरूपण करते हैं।

अन्तरद्वार

गब्भयतिरिमणुसुरनारयाण विरहो मुहुत्तवारसगं ।

मुच्छिमनराण चउवीस विगल अमणाण अंतमुहू ॥५७॥

शब्दार्थ—गब्भय—गर्भज, तिरि—तिर्यच, मणु—मनुष्य, सुर—देव, नारयाण—नारकों का, विरहो—विरहकाल, मुहुत्तवारसगं—बारह मुहूर्त, मुच्छिम—संमूर्च्छिम, नराण—मनुष्य का, चउवीस—चौबीस, विगल—विकलेन्द्रिय, अमणाण—असंज्ञी पंचेन्द्रियों का, अन्तमुहू—अन्तमुहूर्त ।

गाथार्थ—गर्भज तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकों का विरहकाल बारह मुहूर्त, संमूर्च्छिम मनुष्यों का चौबीस मुहूर्त और विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय का विरहकाल अन्तर्मुहूर्त का है।

विशेषार्थ—निरन्तर उत्पद्यमान गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य, देव और नारकों का उत्पाद की अपेक्षा उत्कृष्ट विरहकाल बारह मुहूर्त का है। यानि गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य में गर्भज तिर्यंच और मनुष्य रूप से कोई भी जीव उत्पन्न हो तो उसका विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त है। तत्पश्चात् उनमें कोई न कोई जीव अवश्य उत्पन्न होता ही है।

भवनपति आदि की विवक्षा किये बिना सामान्य से देवगति में उत्पन्न होने वाले देवों का उत्पाद की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त विरहकाल है। अर्थात् देवगति में कोई भी जीव उत्पन्न न हो तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त पर्यन्त उत्पन्न नहीं हो, तत्पश्चात् भवनपति आदि किसी न किसी देवनिकाय में कोई न कोई जीव आकर उत्पन्न होता ही है। किन्तु देवगति में असुरकुमार आदि पृथक्-पृथक् भेद की अपेक्षा विचार किया जाये तो उत्पत्ति की अपेक्षा अन्तर इस प्रकार जानना चाहिये—

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, वायुकुमार, अग्निकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार, इस तरह प्रत्येक भवनपति, प्रत्येक भेद वाले व्यन्तर, प्रत्येक भेद वाले ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान इन सभी देवों में उत्पन्न होने वाले देवों सम्बन्धी विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त है।

सनत्कुमार देवों में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट नौ रात्रि दिन और बीस मुहूर्त विरहकाल है।

माहेन्द्रदेवलोक में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट बारह रात्रि दिन और दस मुहूर्त, ब्रह्म देवलोक में साढ़े बाईस दिन, लांतक देवलोक में

पैंतालीस रात दिन, महाशुक्र देवलोक में अस्सी रात्रि दिन, सहस्रार देवलोक में सौ रात्रि दिन, आनत देवलोक में संख्यात मास, प्राणत देवलोक में संख्यात मास किन्तु आनत देवलोक की अपेक्षा अधिक जानना । आरण देवलोक में संख्यात वर्ष, अच्युत देवलोक में संख्यात वर्ष किन्तु आरणकल्प के देवों की अपेक्षा अधिक जानना । अधस्तन तीन ग्रैवेयक देवों में संख्यात सौ वर्ष, मध्यम ग्रैवेयकत्रिक में संख्यात हजार वर्ष, उपरितन ग्रैवेयकत्रिक में संख्यात लाख वर्ष, विजय, विजयंत, जयन्त और अपराजित अनुत्तर देवों में असंख्यात काल और सर्वार्थसिद्ध महाविमानवासी देवों में पलयोपम का संख्यातवां भागरूप उत्पाद सम्बन्धी उत्कृष्ट विरहकाल जानना चाहिए और प्रत्येक का जघन्य विरहकाल एक समय का है ।

सामान्यतः नरकगति में निरन्तर उत्पन्न होते हुए नारकी जीवों का उत्पाद सम्बन्धी विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त है । लेकिन पृथक्-पृथक् रत्नप्रभा आदि के नारकों की अपेक्षा से विशेष विचार करें तो विरहकाल इस प्रकार जानना चाहिए—

रत्नप्रभा के नारकों का उत्पत्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट विरहकाल चौबीस मुहूर्त, शर्कराप्रभा के नारकों का सात दिन रात, बालुकाप्रभा के नारकों का पन्द्रह दिन, पंकप्रभा के नारकों का एक मास, धूमप्रभा के नारकों का दो मास, तमःप्रभा के नारकों का चार मास और तमस्तमप्रभा के नारकों का छह मास उत्कृष्ट विरहकाल है । प्रत्येक नारक का जघन्य विरहकाल एक समय जानना चाहिए ।

सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र में निरन्तर उत्पन्न होते हुए समूर्च्छिम मनुष्यों का उत्पाद की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त विरहकाल है । समूर्च्छिम मनुष्य रूप से कोई भी जीव आकर उत्पन्न न हो तो उक्त काल पर्यन्त उत्पन्न नहीं होता है । तत्पश्चात् अवश्य उत्पन्न होता है ।

निरन्तर उत्पन्न होते हुए विकलेन्द्रियों—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और

चतुरिन्द्रियों एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यच पंचेन्द्रियों का उत्पत्ति की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त विरहकाल है ।

इस प्रकार जीवस्थानों में अनेक जीवाश्रित उत्पत्ति की अपेक्षा अन्तर का विचार^१ करने के बाद अब उन्हीं जीवस्थानों में एक जीव की अपेक्षा अन्तर का प्रतिपादन करते हैं ।

जीवस्थानों में एक जीवापेक्षा अंतर

तस बायरसाहारणअसन्नि अपुमाण जो ठिईकालो ।

सो इयरारणं विरहो एवं हरियेयरारणं च ॥५८॥

शब्दार्थ—तस—त्रस. बायर—बादर, साहारण—साधारण, असन्नि—असंज्ञी, अपुमाण—नपुंसक का, जो—जो, ठिईकालो—स्थितिकाल, सो—वह, इयरारणं—इतर—स्थावरादि का, विरहो—विरहकाल, एवं—इसी प्रकार, हरियेयरारणं—हरित और इतर अहरति के, च—और ।

गाथार्थ—त्रस, बादर, साधारण, असंज्ञी और नपुंसकवेद का जो स्थितिकाल है, वह इतर—स्थावरादि का विरहकाल समझना चाहिये । इसी प्रकार हरित और अहरित के सम्बन्ध में जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—पूर्व में अनेक जीवों की अपेक्षा अन्तरकाल का विचार किया है कि जैसे देव अथवा नरकगति में भवान्तर से आकर कोई भी जीव देव या नारक रूप से उत्पन्न न हों तो कितने काल तक उत्पन्न न हों । अब एक जीव की अपेक्षा इसी अंतर का विचार करते हैं कि—

जैसे कोई एक जीव त्रस या बादर है, वह अधिक से अधिक कितने काल में स्थावरत्व या सूक्ष्मत्व प्राप्त करता है ? तो इसके समा-

१ अनेक जीवों की अपेक्षा अन्तरकाल सम्बन्धी प्रज्ञापनासूत्र-गत विवेचन परिशिष्ट में देखिये ।

धान का सामान्य नियम यह है कि सप्रतिपक्षी एक भेद का जितना स्थितिकाल हो, उतना उसके विपरीत—विरुद्ध भेद का विरहकाल जानना चाहिये। जैसे कि स्थावर या सूक्ष्मपने का विरहकाल कितना? अर्थात् कोई एक जीव कितने काल के बाद स्थावर भाव या सूक्ष्म रूप प्राप्त करता है? इसका निर्णय करना हो तो प्रतिपक्षी भेद त्रस और बादर में उत्कृष्ट से वह जीव कितने काल रहता है, यह विचार कर निर्णय करना चाहिये। अर्थात् एक जीव अधिक से अधिक जितने काल त्रस रूप और बादर रूप में रहता है, उतना स्थावर और सूक्ष्म का अंतरकाल कहलायेगा।

अब इसी संक्षिप्त का विस्तार से विचार करते हैं—

त्रस, बादर, साधारण, असंज्ञी और नपुंसकवेद में से प्रत्येक का जितना स्थितिकाल है, उतना अनुक्रम से उनके प्रतिपक्षी स्थावर, सूक्ष्म, प्रत्येक शरीर, संज्ञी और स्त्री-पुरुष वेद का उत्कृष्ट से विरहकाल समझना चाहिये। जैसे कि स्थावरत्व को छोड़कर पुनः स्थावरपना प्राप्त करते कितना काल जाता है? तो बतलाते हैं कि जघन्य से अन्त-मुहूर्त और उत्कृष्ट से त्रसकाय का कायस्थिति काल कुछ वर्ष अधिक दो सागरोपम प्रमाण काल जाता है। जघन्य से अन्तमुहूर्त का विचार इस प्रकार से समझना चाहिये कि कोई एक जीव स्थावररूप छोड़कर अन्तमुहूर्त की आयु वाले त्रस में आकर पुनः स्थावर में जाये तो उसकी अपेक्षा जघन्य अन्तमुहूर्त काल घटित होता है और कोई जीव कुछ अधिक दो हजार सागरोपम त्रस में रहकर मोक्ष में न जाये तो उसके बाद अवश्य स्थावरों में जाता है। इस प्रकार से उत्कृष्ट अन्तर-काल घटित होता है।

इसी प्रकार सूक्ष्मरूप प्राप्त करने पर जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से बादर का सत्तर कोडीकोडी सागरोपम प्रमाण काय-स्थिति काल का अन्तर है^१ तथा प्रत्येक शरीर रूप को छोड़कर साधा-

१ यहाँ सूक्ष्मत्व का उत्कृष्ट अंतर सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बतलाया है, किन्तु सामान्य सूक्ष्म की अपेक्षा उतना अंतर घट नहीं सकता

रण शरीर में उत्पन्न होकर पुनः कालान्तर में प्रत्येक शरीरपना प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट साधारण का अढाई पुद्गल-परावर्तन प्रमाण कायस्थितिकाल का अंतर है तथा संज्ञीपना छोड़कर असंज्ञी में उत्पन्न होकर पुनः संज्ञित्व प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंज्ञी का असंख्य पुद्गलपरावर्तन कायस्थिति प्रमाण अंतरकाल है । यहाँ असंज्ञी का जो असंख्य पुद्गलपरावर्तन प्रमाण कायस्थितिकाल कहा है, वह वनस्पति की अपेक्षा जानना चाहिये । क्योंकि संज्ञी के अलावा शेष एकेन्द्रियादि सभी असंज्ञी हैं, जिससे उनका उपयुक्त विरहकाल घटित हो सकता है ।

पुरुषवेद अथवा स्त्रीवेद को छोड़कर वेदान्तर में जाकर पुनः उन्हें प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट उन दोनों का नपुंसक-वेद की असंख्य पुद्गलपरावर्तन प्रमाण कायस्थिति के काल का अंतर है । यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि पुरुषवेद के विरहकाल का विचार करने में स्त्रीवेद का कायस्थितिकाल अधिक लेना चाहिये और स्त्रीवेद के विरहकाल का विचार करने में पुरुषवेद का कायस्थितिकाल अधिक ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि नपुंसकवेद के कायस्थितिकाल की अपेक्षा स्त्रीवेद का पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम प्रमाण अथवा पुरुषवेद का कुछ वर्ष अधिक शतपृथक्त्व सागरोपम

है । पहले गाथा ॡ० में सामान्य बादर की स्वकायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण बतलाई है । जिसका अर्थ यह हुआ कि सूक्ष्म का उत्कृष्ट अंतर भी असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण संभव है । जिससे पृथ्वीकायादि किसी भी विवक्षित एक काय में ही सूक्ष्म पृथ्वीकाया-दिक के अंतर का विचार करें तो सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीव सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बादर पृथ्वीकाय जीव की स्वकायस्थिति पूर्ण कर पुनः सूक्ष्म पृथ्वीकाय में आये तो उस अपेक्षा उक्त अंतर घट सकता है । विशेष बहुश्रुतगम्य है ।

प्रमाण कायस्थितिकाल अल्प ही है। इस प्रकार स्थावर, सूक्ष्म, प्रत्येक शरीर, संज्ञी और स्त्री-पुरुषवेद का अंतर जानना चाहिये।

अब त्रस, बादर, साधारण, असंज्ञी और नपुंसकवेद के अंतर का निर्देश करते हैं—

स्थावर, सूक्ष्म, प्रत्येक शरीरी, संज्ञी और स्त्री-पुरुषवेद में से प्रत्येक का जो कायस्थितिकाल है, वह अनुक्रम से त्रस, बादर, साधारण, असंज्ञी और नपुंसकवेद का विरहकाल समझना चाहिये। जैसे कि त्रस अवस्था छोड़कर स्थावर में उत्पन्न हो पुनः त्रसत्व प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थावर का आवलिका के असंख्यातवें भाग में रही हुई समयराशि प्रमाण असंख्य पुद्गलपरावर्तनरूप कायस्थिति विरहकाल जानना चाहिये तथा बादरभाव को छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय में उत्पन्न होकर पुनः बादरभाव को प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सूक्ष्म का असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों का प्रतिसमय अपहार करने के द्वारा उत्पन्न हुई असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण कायस्थिति विरहकाल जानना चाहिये तथा निगोदपने को छोड़कर प्रत्येक शरीरी में उत्पन्न हो पुनः कालान्तर में निगोद में उत्पन्न होने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट प्रत्येक शरीरी का असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण कायस्थिति विरहकाल जानना चाहिये तथा असंज्ञीपने को छोड़कर संज्ञी में उत्पन्न हो पुनः असंज्ञीभाव को प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संज्ञीपने का कुछ वर्ष अधिक शतपृथक्त्व सागरोपम कायस्थिति प्रमाण अंतरकाल है और नपुंसकपने को त्यागकर पुरुषवेदी या स्त्रीवेदी में उत्पन्न हो पुनः नपुंसकवेद को प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्त्रीवेद और पुरुषवेद की कायस्थिति प्रमाण अंतरकाल है। स्त्रीवेद का उत्कृष्ट कायस्थितिकाल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम प्रमाण और पुरुषवेद का कायस्थितिकाल कुछ वर्ष अधिक शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण समझना चाहिये।

इसीप्रकार वनस्पति और अवनस्पतिपने का भी अन्तरकाल जानना चाहिये । जैसे कि वनस्पति को छोड़कर अन्य अवनस्पति पृथ्वी आदि में उत्पन्न हो पुनः वनस्पतिपने को प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अवनस्पतिपने का असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण कायस्थिति रूप अंतरकाल जानना चाहिये तथा अवनस्पति रूप का त्यागकर वनस्पति में उत्पन्न हो पुनः अवनस्पतिपना प्राप्त करने पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाय की असंख्यात पद्मगलपरावर्तन रूप कायस्थिति अंतरकाल समझना चाहिए और पंचेन्द्रिय का अंतरकाल अपंचेन्द्रिय की कायस्थितिकाल प्रमाण और अपंचेन्द्रिय का अंतरकाल पंचेन्द्रिय का कायस्थितिकाल प्रमाण जानना चाहिए तथा मनुष्य का अमनुष्य कायस्थितिकाल प्रमाण और अमनुष्य का मनुष्य कायस्थितिकाल प्रमाण उत्कृष्ट अंतरकाल समझना चाहिए ।

इसी प्रकार सर्वत्र पूर्वापर का विचार करके अंतरकाल जान लेना चाहिए किन्तु जघन्य तो सर्वत्र अन्तर्मुहूर्तकाल समझना चाहिये ।

इस प्रकार से मनुष्य तिर्यचगति सम्बन्धी एक जीवाश्रित अंतरकाल बतलाने के बाद अब देवगति में अंतरकाल का वर्णन करते हैं ।

देवगति सम्बन्धी अंतरकाल

आईसाणं अमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्तांतो ।

आसहसारे अच्युयणुत्तर दिण मास वास नव ॥५६॥

शब्दार्थ—आईसाणं—ईशान देवलोक पर्यन्त के, अमरस्स—देवों का अंतर—अन्तर, हीणयं—जघन्य, मुहुत्तांतो—अन्तर्मुहूर्त, आसहसारे—सहस्रार तक के, अच्युयणुत्तर—अच्युत और अनुत्तर तक के, दिण—दिन, मास—मास, वास—वर्ष, नव—नौ ।

गाथार्थ— ईशान देवलोक तक के देवों का जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त और सहस्रार तक के, अच्युत तक के और अनुत्तर तक के देवों का अन्तर अनुक्रम से नौ दिन, नौ मास और नौ वर्ष का है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में देवों सम्बंधी अंतरकाल बतलाया है कि भवनपति से लेकर ईशान देवलोक तक का कोई भी देव अपनी देव-निकाय में से च्यवकर पुनः वह भवनपति आदि में उत्पन्न हो तो उसका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । यह जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त इस प्रकार से घटित होता है कि भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, सौधर्म अथवा ईशानकल्प में से कोई भी देव च्यव कर गर्भज मत्स्यादि में उत्पन्न होकर सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त होने के बाद वहाँ तीव्र क्षयोपशम के प्रभाव से उत्पन्न हुए जातिस्मरण आदि ज्ञान के द्वारा पूर्वभव का अनुभव करने से अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से धर्म सम्बंधी शुभ भावना को भाते हुए उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त काल में मरण को प्राप्त कर उसी अपनी देवनिकाय में उत्पन्न होता है तो ऐसे जीव की अपेक्षा जघन्य अंतरकाल अन्तर्मुहूर्त घटित होता है^१ तथा उत्कृष्ट अंतर भवनपति आदि में से च्युत होकर वनस्पति आदि में भ्रमण करते हुए आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण असंख्य पुद्गलपरावर्तन काल है ।

अब सनत्कुमार आदि का जघन्य अंतर बतलाते हैं—

सनत्कुमार से लेकर सहस्रारकल्प तक के किसी भी देवलोक में से च्यवकर पुनः अपने उसी देवलोक में उत्पन्न होने वाले देवों का जघन्य अन्तर नौ दिन का है । ईशान देवलोक तक जाने के योग्य परिणाम तो अन्तर्मुहूर्त आयु वाले के भी हो सकते परन्तु ऊपर-ऊपर के देवलोकों में जाने का आधार अनुक्रम से उत्तरोत्तर विशुद्ध-विशुद्ध परिणाम हैं

-
- १ कोई जीव अपर्याप्त अवस्था में देवगतियोग्य कर्मबंध करता नहीं है । इसीलिये पर्याप्त को ग्रहण किया है । पर्याप्त होने के अनन्तर इसी प्रकार के उत्तम निमित्त मिलने पर शुभ भावना के वश अन्तर्मुहूर्त में ही देवगति योग्य कर्मबंध कर मरणोपरान्त ईशान देवलोक पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है ।

और प्रवर्धमान परिणामों का आधार उत्तरोत्तर अधिक अधिक मन की सबलता है तथा मन की सबलता अनुक्रम से वय की वृद्धि पर आधारित है। यानि अमुक उम्र वाले को अमुक सीमा तक के विशुद्ध परिणाम हो सकते हैं और उसके द्वारा उस-उसके योग्य कर्म बांध कर अमुक देवलोक पर्यन्त जा सकता है। अतः सनत्कुमार से सहस्रार देवलोक तक में उत्पन्न होने योग्य विशुद्ध परिणाम नौ दिन की आयु वाले के हो सकते हैं। जिससे नौ दिन की आयु वाले अति विशुद्ध सम्यग्-दृष्टि का सहस्रार देवलोक पर्यन्त गमन संभव है।

आनतकल्प से लेकर अच्युत देवलांक तक के देवों में से च्यव कर मनुष्य में उत्पन्न हो पुनः आनतादि देवलोक में उत्पन्न होने का जघन्य अन्तरकाल नौ मास है। क्योंकि आनत से अच्युत देवलोक तक में उत्पन्न होने योग्य विशिष्ट विशिष्टतर परिणाम नौ मास की आयु वाले के संभव हैं। अतएव कम से कम उतनी आयु वाला विशिष्ट विशिष्टतर परिणाम के योग से आनत से लेकर अच्युत पर्यन्त देवलोकों में जाने योग्य कर्मों का उपार्जन कर वहाँ जाता है।

प्रथम ग्रैवेयक से लेकर सर्वार्थसिद्ध महाविमान को छोड़कर शेष चार अनुत्तर तक के देवों में से च्यवकर मनुष्य हो पुनः अपने उसी देवलोक में उत्पन्न होने का जघन्य अंतर नौ वर्ष है। क्योंकि प्रकृष्ट चारित्रवान् आत्मा ग्रैवेयक आदि में उत्पन्न होती है और प्रकृष्ट द्रव्य और भाव चारित्र की प्राप्ति नौ वर्ष की आयु वाले के संभव है। अतः वैसी आत्मा का अनुत्तर देवों तक गमन सम्भव है। सर्वार्थसिद्ध महाविमान में से च्यवकर मनुष्य हो पुनः सर्वार्थसिद्ध में कोई जाता नहीं, परन्तु मोक्ष में जाता है, इसलिये इसका निषेध किया है।

इस प्रकार से ईशान आदि देवलोकों का जघन्य अंतर निर्देश करने के बाद अब पूर्वोक्त स्थानों का उत्कृष्ट अंतर बतलाते हैं --

थावरकालुक्कोसो सव्वट्ठे बीयओ न उववाओ ।

दो अयरा विजयाइसु नरएसु वियाणुमाणेणं ॥६०॥

शब्दार्थ—थावरकालुक्कोसो—स्थावर का उत्कृष्ट काल, सव्वट्ठे—सर्वा-

र्थसिद्ध में, बीयओ—दूसरी बार, न—नहीं, उववाओ—उपपात-जन्म, दो—दो, अयरा—सागरोपम, विजयाइसु विजयादिकों में, नरएसु—नरकों में, वियाणुमाणेणं—अनुमान से जानना चाहिये ।

गाथार्थ—ग्रैवेयक तक के देवों का उत्कृष्ट अंतरकाल स्थावर का काल समझना चाहिये । सर्वार्थसिद्ध विमान में दूसरी बार उपपात नहीं होता है । विजयादि में दो सागरोपम अंतरकाल है और नरकों में इसी अनुमान से अंतरकाल जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—भवनपति से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक के समस्त देवों में से च्यवकर पुनः अपनी उसी देवनिकाय में उत्पन्न होने का उत्कृष्ट अंतर स्थावर की स्वकायस्थिति आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण असंख्यात पुद्गलपरावर्तन रूप काल जानना चाहिए ।

‘सव्वट्ठे बीयओ न उववाओ’ अर्थात् सर्वार्थसिद्ध महाविमान के देव वहाँ से च्यव कर मनुष्य हो उसी भव से मोक्ष में जाते हैं । क्योंकि वे सभी एकावतारी होते हैं, जिससे वे पुनः सर्वार्थसिद्ध महाविमान में उत्पन्न नहीं होते हैं । इसलिये उनमें जघन्य या उत्कृष्ट किसी भी प्रकार का अंतर नहीं होता है ।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर देवों में से च्यवकर मनुष्य हो विजयादि देवों में उत्पत्ति का उत्कृष्ट अंतर दो सागरोपम का है—‘दो अयरा विजयाइसु^१’ क्योंकि विजयादि में से च्यवकर पुनः विजयादि में उत्पन्न हो तो मनुष्य और सौधर्मादि

१ विजयादि में से च्यवित हुआ जीव नरकों या तिर्यचों में उत्पन्न नहीं होता है । अधिक से अधिक दो सागरोपम काल मनुष्य और सौधर्मादि देव भवों में व्यतीत कर विजयादि में उत्पन्न हो मोक्ष में जाता है । विजयादि में गया हुआ जीव पुनः विजयादि में जाये, ऐसा कोई नियम नहीं है । मोक्ष में न जाये और विजयादि में जाये तो उपर्युक्त उत्कृष्ट अंतर संभव है ।

देव भवों में उत्कृष्ट दो सागरोपम काल निर्गमन करके उत्पन्न होता है ।^१

नरकों में भी इसी अनुमान के द्वारा जघन्य और उत्कृष्ट अंतर समझ लेना चाहिये । यानि कोई भी नरक में से-च्यवकर पुनः उस नरक में उत्पन्न हो तो उत्पत्ति का जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त है । अंतर्मुहूर्त की आयुवाला कोई संक्लिष्ट परिणाम के योग से नरकयोग्य कर्म का उपार्जन कर नरक में जाता है । जैसे कि अन्तर्मुहूर्त की आयुवाला तंदुलमच्छ सातवें नरक में जाता है और उत्कृष्ट अंतर स्थावर का असंख्यात पुद्गलपरावर्तन रूप कायस्थिति काल है । उत्कृष्ट से इतना काल वनस्पति आदि में भटक कर उस नरक में जा सकता है ।

इस प्रकार जीवस्थानों में एक जीव की अपेक्षा अन्तर का विचार करने के बाद अब एक जीवापेक्षा गुणस्थानों में अन्तर का कथन करते हैं ।

एक जीवापेक्षा गुणस्थानों में अन्तर

पलियासंखो सासायणंतरं सेसगाण अंतमूह ।

मिच्छस्स वे छसट्ठी इयराणं पोग्गलद्धंतो ॥६१॥

१ जीवाभिगमसूत्र में तो भवनपति से लेकर सहस्रार कल्प तक के देवों में जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और आनत कल्प से लेकर सर्वार्थसिद्ध महाविमान को छोड़कर शेष विजयादि चार विमान के देवों में वर्षपृथक्त्व और उत्कृष्ट अंतर ग्रंथेयक तक के देवों में वनस्पति का असंख्यात पुद्गलपरावर्तन रूप काल और विजयादि चार में संख्यात सागरोपम प्रमाणकाल कहा है । उक्त ग्रंथ का सम्बन्धित पाठ इस प्रकार है—

‘भवणवासिदेवपुरिसाणं जाव सहस्सारे ताव जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो । आणयदेवपुरिसाणं भन्ते केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं वासपुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो । एवं गेवेज्जदेवपुरिसस्सवि अणुत्तरोववाइयदेवपुरिसस्स जहन्नेणं वासपुहुत्तं, उक्कोसेणं संखिज्जाइ सागरोवमाइ’ इति ।

शब्दार्थ—पलियासंखो—पत्य का असंख्यातवां भाग, सासायणंतरं—सासादन गुणस्थान का अन्तर, सेसगाण—शेष गुणस्थानों का, अन्तमुह—अन्त-मुहूर्त, मिच्छस्स—मिथ्यात्व का, बे—दो, छसद्धी—छियासठ सागरोपम, इयराणं—इतरों शेष का, पोग्गलद्धं तो—अर्धं पुद्गलपरावर्तन ।

गाथार्थ—सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पत्योपम का असंख्यातवां भाग और शेष गुणस्थानों का अन्तमुहूर्त है । मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तर दो छियासठ सागरोपम और शेष गुणस्थानों का (कुछ कम) अर्धं पुद्गलपरावर्तन है ।

विशेषार्थ—गाथा में एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर बतलाया है कि किसी भी गुणस्थान से गिरकर पुनः उस-उस गुणस्थान को कम से कम और अधिक से अधिक कितने काल में प्राप्त करता है । पहले जघन्य अन्तर का निर्देश करते हुए कहा है—

सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पत्योपम का असंख्यातवां भाग है । अर्थात् कोई जीव यदि सासादनभाव का अनुभव कर वहाँ से गिरकर पुनः सासादनभाव को प्राप्त करे तो अवश्य जघन्य से भी पत्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाणकाल जाने के बाद ही प्राप्त करता है, इससे पूर्व नहीं । इससे पूर्व प्राप्त न करने का कारण यह है कि औपशामिक सम्यक्त्व प्राप्त कर वहाँ से अनंतानुबंधिकषाय के उदय से गिरकर ही सासादनभाव को प्राप्त करता है । उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना कोई जीव सासादनभाव में नहीं जा सकता है । सासादन से गिरकर मिथ्यात्व में जाकर दूसरी बार उपशम सम्यक्त्व प्राप्त हो तो मोहनीय की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता होने के बाद यथाप्रवृत्ति आदि तीन करण करने पर ही प्राप्ति होती है । मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता मिश्र और सम्यक्त्व-पुंज की उद्वलना करे तब होती है और उन दोनों की उद्वलना पत्योपम के असंख्यातवां भाग प्रमाण काल में होती है, जिससे पत्योपम

के असंख्यातवें भाग जितने काल में सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की उद्वलना करके छब्बीस की सत्ता वाला होकर तत्काल ही तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर वहाँ से गिरकर सासादन में आये तो उसकी अपेक्षा सासादन का जघन्य अन्तर पल्यौपम का असंख्यातवां भाग घटित होता है ।^१

‘सेसगाण अन्तमुहू’ अर्थात् शेष यानी सासादन गुणस्थान के सिवाय शेष रहे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्तविरति, अप्रमत्तविरति, उपशमश्रेणि सम्बन्धी अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय और उपशान्तमोह, इन दस गुणस्थानों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि आदि अपने-अपने उस-उस गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थान में जाकर पुनः अपने-अपने उस-उस गुणस्थान को अन्तर्मुहूर्त काल जाने के बाद प्राप्त कर सकते हैं ।^२

१ किसी जीव ने मिथ्यादृष्टि में तीन करण करके उपशमसम्यक्त्व प्राप्त किया और वहाँ से गिरकर वह सासादन को स्पर्श कर पहले गुणस्थान में आये, वहाँ अन्तर्मुहूर्त रह, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर ऊपर के गुणस्थानों में जाकर अन्तर्मुहूर्त श्रेणि का उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके उपशमश्रेणि पर आरूढ हो । उसके बाद श्रेणि से गिरकर अन्तर्मुहूर्त में ही सासादन का स्पर्श कर सकता है । इस प्रकार से सासादन की स्पर्शना का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त भी सम्भव है । लेकिन उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की है ।

२ कोई भी जीव पहले गुणस्थान से चौथे, पांचवें गुणस्थान में जाकर वहाँ से गिरकर पहले में आकर और अन्तर्मुहूर्त काल में क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर चौथे, पांचवें गुणस्थानों में जा सकता है और छठा, सातवां गुणस्थान तो प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में बदलता ही रहता है । इसलिये उनका भी अन्तर्मुहूर्त अन्तरःसंभव है ।

प्रश्न—उपशमश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि का मात्र अन्तर्मुहूर्त अन्तरकाल कैसे है ? क्योंकि प्रत्येक गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त काल है । आठवें से प्रत्येक गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त रहकर ग्यारहवें में जाये और वहाँ भी अन्तर्मुहूर्त रहकर वहाँ से गिरकर अनुक्रम से सातवें, छठे गुणस्थान में आकर अन्तर्मुहूर्त के बाद श्रेणि पर आरूढ हो तब अपूर्वकरणादि का स्पर्श करता है, जिससे काल अधिक होता है, अन्तर्मुहूर्त कैसे हो सकता है ?

उत्तर—उपशमश्रेणि का सम्पूर्ण काल भी अन्तर्मुहूर्त है । उपशमश्रेणि से गिरने के बाद कोई आत्मा फिर से भी अन्तर्मुहूर्त के बाद उपशमश्रेणि को प्राप्त कर सकती है और अपूर्वकरणादि गुणस्थान को स्पर्श करती है, जिससे जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त घटित होता है । अथवा अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं, जिससे अपूर्वकरणादि गुणस्थान के बाद अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसंपराय आदि प्रत्येक गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त रहने पर भी और श्रेणि पर से गिरने के बाद अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण तीन करण करके विवक्षित अपूर्वकरणादि गुणस्थान का स्पर्श करने पर भी यदि अंतर का विचार करें तो अन्तर्मुहूर्त ही होता है, अधिक नहीं । क्योंकि गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त छोटा है और अंतरकाल का बड़ा है, जिससे कोई विरोध नहीं है ।

प्रश्न—अंतरकाल के विचार के प्रसंग में उपशमश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि की विवक्षा क्यों की है, क्षपकश्रेणिवर्ती ग्रहण क्यों नहीं किये हैं ?

उत्तर—क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में पतन का अभाव होने से पुनः वे गुणस्थान प्राप्त नहीं होते हैं । जिससे क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में अंतर का अभाव है और इसी हेतु से अर्थात् पतन का अभाव होने से क्षीणमोह, सयोगिकेवली और

अयोगिकेवली गुणस्थानों के अंतर का भी विचार नहीं किया है। क्योंकि वे प्रत्येक गुणस्थान एक बार ही प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—अंतरकाल में दो बार उपशमश्रेणि का ग्रहण क्यों किया गया है ?

उत्तर—एक बार उपशमश्रेणि प्राप्त करके उसी भव में दूसरी बार क्षपकश्रेणि प्राप्त नहीं करता है। क्योंकि सिद्धान्त के अभिप्रायानुसार एक भव में दोनों श्रेणियों की प्राप्ति असंभव है। जैसा कि कहा है —

अन्यतरसेद्विवज्जं एगमवेणं च सद्वाइं ।^१

दोनों श्रेणियों में से अन्यतर श्रेणि को छोड़कर एक भव में देश-विरति, सर्वविरति आदि समस्त भाव प्राप्त होते हैं और श्रेणि दोनों में से एक ही या तो उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि प्राप्त होती है। इसीलिये दोनों बार उपशमश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि गुणस्थानों की विवक्षा की है ।^२

इस प्रकार गुणस्थानों के जघन्य अन्तरकाल का विचार करने के बाद अब उत्कृष्ट अंतरकाल का विचार करते हैं।

‘मिच्छस्स’ इत्यादि अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में जाकर वहाँ से गिरकर पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त करे तो उसका उत्कृष्ट अंतरकाल एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाण है।

१ बृहत्कल्पभाष्य

२ उपर्युक्त अभिप्राय सूत्रकार का है, कर्मग्रन्थकार का नहीं। कर्मग्रन्थकार के मत से तो एक भव में उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियाँ प्राप्त हो सकती हैं। यानि उपशमश्रेणि प्राप्त कर वहाँ से पतन कर अन्तर्मुहूर्त काल में क्षपकश्रेणि प्राप्त करे और अपूर्वकरणादि गुणस्थानों को स्पर्श करे तब भी अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण विरहकाल में कोई विरोध नहीं है।

यह एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाणकाल इस प्रकार जानना चाहिये कि कोई एक मिथ्यादृष्टि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके छियासठ सागरोपम पर्यन्त क्षायोपशमिक सम्यक्त्व युक्त रह सकता है। उसके बाद बीच में अन्तर्मुहूर्त काल मिश्रदृष्टि गुणस्थान का स्पर्श कर पुनः क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर छियासठ सागरोपम पर्यन्त उसका अनुभव करता है। इस प्रकार एक सौ बत्तीस सागरोपम के बाद कोई धन्य जीव मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा कोई अधन्य जीव मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। उनमें जो मिथ्यात्व को प्राप्त करता है उसके मिथ्यात्व से ऊपर के गुणस्थान में जाकर पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त करने में उपयुक्त उत्कृष्ट अंतरकाल घटित होता है।

प्रश्न—जब पूर्वोक्त कथन के अनुसार मिथ्यात्व गुणस्थान का कुल मिलाकर अन्तर्मुहूर्त अधिक एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाण विरहकाल होता है तब गाथा में परिपूर्ण एक सौ बत्तीस सागरोपम का संकेत क्यों किया है ?

उत्तर—अन्तर्मुहूर्त काल का बहुत ही छोटा-सा अंश होने से यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है। इसलिये इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है।

‘इयराणं पोग्गलद्धं तो’ अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर सासादन गुणस्थान से लेकर उपशांतमोह तक के प्रत्येक गुणस्थान को पुनः प्राप्त करने का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है। क्योंकि सासादन आदि किसी भी गुणस्थान से गिर कर पहले गुणस्थान में आने वाली आत्मा वहाँ अधिक से अधिक कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तन पर्यन्त रहती है। तत्पश्चात् अवश्य ही ऊपर के गुणस्थान में जाती है, जिससे उतना ही उत्कृष्ट अंतर होता है।

इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों में अंतरकाल बतलाने के पश्चात् अब अनेक जीवों की अपेक्षा अंतरकाल बतलाते हैं।

अनेक जीवापेक्षा गुणस्थानों का अंतर

वासपुहुत्तं उवसामगाण विरहो छमास खवगाणं ।

नाणाजीएसु सासाणमीसाणं पल्लसंखंसो ॥६२॥

शब्दार्थ—वासपुहुत्तं—वर्षपृथक्त्व, उवसामगाण—उपशमक गुणस्थानों का, विरहो—विरह—अन्तर, छमास—छह मास, खवगाणं—क्षपक गुणस्थानों का, नाणाजीएसु—अनेक जीवों में, सासाणमीसाणं—सासादन और मिश्र का, पल्लसंखंसो—पल्य का असंख्यातवां भाग ।

गाथार्थ—अनेक जीवों की अपेक्षा उपशमक अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का उत्कृष्ट अंतर वर्षपृथक्त्व, क्षपक अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का छह मास और सासादन व मिश्र गुणस्थानों का पल्योपम का असंख्यातवां भाग है ।

विशेषार्थ—जैसे ऊपर की गाथा में एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों का अंतरकाल बतलाया है. उसी प्रकार इस गाथा में अनेक जीवों की अपेक्षा विरहकाल यानी अयोगिकेवली आदि गुणस्थान को कोई भी जीव प्राप्त न करे तो कितने काल प्राप्त नहीं करता है, बतलाते हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनेक जीवों की अपेक्षा उपशमश्रेणिवर्ती अपूर्वकरण से लेकर उपशांत मोह तक के किसी भी गुणस्थान का उत्कृष्ट अंतर वर्षपृथक्त्व है । तात्पर्य यह है कि इस जगत में उपर्युक्त चार गुणस्थानों में कोई भी जीव सर्वथा न हो तो वर्षपृथक्त्व पर्यन्त नहीं होता है । उसके बाद कोई न कोई जीव उस गुणस्थान को अवश्य प्राप्त करता है तथा क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरण से लेकर क्षीणमोह तक के किसी भी गुणस्थान को और उपलक्षण से अयोगिकेवली गुणस्थान को कोई भी जीव प्राप्त न करे तो छह मास पर्यन्त प्राप्त नहीं करता है, तत्पश्चात् कोई न कोई जीव अवश्य प्राप्त करता है । अधिक से अधिक छह मास पर्यन्त

ही सम्पूर्ण जीवलोक में उक्त गुणस्थानों में कोई भी जीव नहीं होता है ।

सासादन और मिश्रदृष्टि इन दोनों गुणस्थानों का उत्कृष्ट अंतर पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है । किसी भी काल में सम्पूर्ण लोक में भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल पर्यन्त सासादन और मिश्र इन गुणस्थानों में कोई जीव नहीं होता है, तत्पश्चात् अवश्य उन गुणस्थानों में कोई न कोई जीव आता है ।

मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्त-विरत और सयोगिकेवली इन छह गुणस्थानों में सदैव जीव होते हैं, जिससे उनके अंतरकाल का विचार नहीं किया जाता है ।

इस प्रकार से अनेक जीवों की अपेक्षा गुणस्थानों का अंतरकाल बतलाने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों को जीव उत्कृष्ट से कितने अंतर से प्राप्त करता है—

सम्माई तिन्नि गुणा कमसो सगचोद्दपन्नरदिणाणि ।

छम्मास अजोगित्तं न कोवि पडिवज्जए सययं ॥६३॥

शब्दार्थ—सम्माई—सम्यक्त्व आदि, तिन्नि—तीन, गुणा—गुणस्थान, कमसो—अनुक्रम से, सग—सात, चोद्द—चौदह, पन्नर—पन्द्रह, दिणाणि—दिन, छम्मास—छह माह, अजोगित्तं—अयोगिपने को, न—नहीं, कोवि—कोई भी, पडिवज्जए—प्राप्त करता है, सययं—सतत, निरन्तर ।

गथार्थ—(अविरत) सम्यक्त्व आदि तीन गुणस्थानों को अनुक्रम से सात, चौदह, पन्द्रह दिन और अयोगिपने को छह मास पर्यन्त कोई जीव प्राप्त नहीं करता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि ऊपर यह बताया है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि तीन गुणस्थानों में जीव निरन्तर होते हैं, इसीलिये उनका अंतर नहीं कहा है, परन्तु अब यह बतलाते हैं कि अन्य अन्य जीव उस गुण

स्थान को प्राप्त नहीं करें तो अधिक से अधिक कितने काल पर्यन्त प्राप्त नहीं करते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

किसी समय अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत इन तीन गुणस्थानों^१ को अनुक्रम से सात, चौदह और पन्द्रह दिन पर्यन्त निरन्तर कोई भी जीव प्राप्त नहीं करता है। अर्थात् किसी समय ऐसा भी संभव है कि सम्पूर्ण जीवलोक में अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान को कोई भी जीव प्राप्त न करे तो उत्कृष्ट से सात दिन पर्यन्त प्राप्त नहीं करता है, उसके बाद अवश्य कोई न कोई जीव प्राप्त करता है। उसी तरह देशविरत गुणस्थान को चौदह दिन और सर्वविरत गुणस्थान को पन्द्रह दिन पर्यन्त प्राप्त नहीं करता है तथा अयोगिकेवली गुणस्थान को छह मास पर्यन्त कोई भी जीव प्राप्त नहीं करता है, तत्परचात् अवश्य प्राप्त करता है। उक्त कथन उत्कृष्ट की अपेक्षा समझना चाहिये और जघन्य से तो एक समय के बाद भी वे गुणस्थान पुनः प्राप्त हो सकते हैं।

इस प्रकार से अंतरद्वार की वक्तव्यता जानना चाहिये। अब भागद्वार कहने का अवसर प्राप्त है, किन्तु उसका अल्पबहुत्वद्वार में समावेश हो जाने से कि अमुक जीव, अमुक की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात या अनन्त गुणे हैं और अमुक जीव पूर्व की अपेक्षा संख्यातवें, असंख्यातवें या अनन्तवें भाग हैं। जिससे इसका पृथक् से निर्देश करना उपयोगी न होने से अब भावद्वार का विवेचन करते हैं।

भावद्वार प्ररूपणा

सम्माइचउमु तिय चउ उवसमगुवसंतयाण चउ पंच ।

चउ खीण अपुव्वाणं तिन्नि उ भावावसेसाणं ॥६४॥

- १ गाथागत 'तिन्नि' पद से यहाँ तीन गुणस्थानों के नाम ग्रहण किये हैं। किन्तु सर्वविरति में छठे और सातवें इन दोनों गुणस्थानों का समावेश होता है। अतः चारों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

शब्दार्थ—सम्माइ—अविरतसम्यक्त्व आदि, चउसु—चार गुणस्थानों में, तिय—तीन, चउ—चार, उवसमगुबसंतयाण—उपशमक और उपशांतमोह गुणस्थानों में, चउ—चार, पंच—पांच, चउ—चार, खीण—क्षीणमोह, अपुव्वाणं—अपूर्वकरण गुणस्थान में, तिन्नि—तीन, उ—और, भावावसेसाणं—भाव अवशेष गुणस्थानों में ।

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में तीन अथवा चार भाव होते हैं । उपशमक और उपशांतमोह में चार अथवा पांच भाव, क्षीणमोह और अपूर्वकरण गुणस्थान में चार तथा शेष गुणस्थानों में तीन भाव होते हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ औपशमिक आदि पारिणामिक पर्यन्त पांच भावों में से गुणस्थानों में उनकी प्राप्ति का निर्देश किया है कि प्रत्येक गुणस्थान में कितने भाव संभव हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘सम्माइ चउसु तिय चउ’ अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्र-मत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में तीन अथवा चार भाव होते हैं । याद तीन हों तो औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीनों भाव होते हैं और चार भाव हों तो पूर्वोक्त तीन के साथ क्षायिक अथवा औपशमिक भाव को मिलाने पर चार भाव होते हैं ।

उनमें मनुष्यगति आदि गति, वेद, कषाय, आहारकत्व, अविरतत्व, लेश्या इत्यादि औदयिक भाव की अपेक्षा, भव्यत्व और जीवत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा, मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और दानादि लब्धिपंचक आदि क्षायो-पशमिक भाव की अपेक्षा, क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक भाव की अपेक्षा और औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक भाव की अपेक्षा होते हैं ।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि जब तीन भावों की विवक्षा की जाये तब सम्यक्त्व क्षायोपशमिक लेना चाहिये और क्षायिक अथवा औपशमिक सहित चार भावों की विवक्षा में सम्यक्त्व क्षायिक अथवा औपशमिक ग्रहण करना चाहिये ।

‘उवसमगुवसंतयाण चउ पंच’ अर्थात् उपशमश्रेणिवर्ती अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय और सूक्ष्मसंपराय तथा उपशांतमोह इन चार गुणस्थानों में चार या पांच भाव होते हैं ।

जब चार भाव होते हैं तब औदयिक, औपशमिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक ये चार भाव होते हैं । उनमें मनुष्यगति, वेद, कषाय, लेश्या आदि औदयिक भाव की अपेक्षा; जीवत्व, भव्यत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा; उपशम सम्यक्त्व उपशम भाव की अपेक्षा और ज्ञान, दर्शन और दानादि लब्धि आदि क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा से हैं ।

किन्तु इतना विशेष जानना चाहिये कि दसवें सूक्ष्मसंपराय और ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में औदयिक भावगत वेद और कषायों को ग्रहण नहीं करना चाहिये । क्योंकि नौवें गुणस्थान में उपशमित हो जाने से आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं होता है । क्षायोपशमिक भाव में वेदक सम्यक्त्व को नहीं लेना चाहिये । क्योंकि वह चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त ही होता है और उपशम भाव में उपशम चारित्र अधिक कहना चाहिये ।^१ जब क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणि पर आरूढ होता है तब क्षायिक भाव में क्षायिक सम्यक्त्व और

-
- १ ग्यारहवें गुणस्थान में तो चारित्रमोहनीय की प्रत्येक प्रकृति का उपशम हो जाने से उपशम भाव का चारित्र होता है । परन्तु दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उदय होने पर भी उपशम भाव का चारित्र नहीं होता है, क्षायोपशमिक भाव का होता है । यहाँ जो उपशम भाव का लिया है, वह अपूर्ण को पूर्ण मानकर कहा है । क्योंकि चारित्रमोहनीय की बीस प्रकृतियाँ उपशांत हो गई हैं और लोभ का भी अधिक भाग उपशमित हो गया है । मात्र अल्प अंश ही शेष है । इसलिये उसको पूर्ण मान कर लेने में अनुचित जैसा कुछ नहीं है ।

उपशम भाव में उपशम चारित्र्य होता है और शेष तीन भाव ऊपर कहे गये अनुसार होते हैं ।

‘चउ खीण अपुव्वाणं’ अर्थात् क्षपकश्चेणिवर्ती अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय और क्षीणमोह इन गुणस्थानों में चार भाव होते हैं । इसका कारण यह है कि क्षपकश्चेणि में औपशमिक भाव का अभाव है ।

‘तित्त उ भावावसेसाणं’ अर्थात् पूर्वोक्त गुणस्थानों से शेष रहे मिथ्या-दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र), सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन गुणस्थानों में तीन भाव होते हैं ।

मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्रदृष्टि में इस प्रकार तीन भाव होते हैं—औदयिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक । उनमें गति, जाति, लेश्या, वेद, कषाय आदि औदयिक भाव की अपेक्षा और भव्य जीव की दृष्टि से जीवत्व और भव्यत्व पारिणामिक भावापेक्षा और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों के जीवत्व और अभव्यत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा तथा मत्ति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन और दानादि पांच लब्धि क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा हैं ।

सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों में तीन भाव इस प्रकार होते हैं—औदयिक, पारिणामिक और क्षायिक । मनुष्यगति आदि औदयिक भाव की अपेक्षा, भव्यत्व, जीवत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र्य, पूर्ण दानादि पांच लब्धि, ये सब क्षायिक भाव की अपेक्षा होती हैं ।

सिद्ध भगवान के क्षायिक और पारिणामिक ये जीव के स्वरूप रूप दो ही भाव होते हैं । उनमें से केवलज्ञानादि क्षायिक भाव की अपेक्षा और जीवत्व पारिणामिक भावापेक्षा होता है ।

जीवस्थानों में भाव

इस प्रकार से गुणस्थानों में किये गये भावों के विचार के अनुसार जीवस्थानों में भी स्वयमेव विचार कर लेना चाहिये । फिर भी यहाँ कुछ

संकेत करते हैं कि आदि के बारह जीवस्थानों में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं। क्योंकि ये सभी जीवस्थान पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। मात्र करण-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में से किन्हीं के सासादन गुणस्थान भी होता है। इसलिये पूर्व में जैसे पहले और दूसरे गुणस्थान में भावों को बतलाया है उसी प्रकार से इनमें भी भावों का विधान समझ लेना चाहिये।

लब्ध-अपर्याप्त संज्ञी में भी पूर्वोक्त तीन भाव समझना चाहिये। क्योंकि करण-अपर्याप्त संज्ञी में चौथा गुणस्थान भी संभव होने से जिन्होंने दर्शनसप्तक का क्षय किया हो, उनके क्षायिक सम्यक्त्व और जो उपशमश्रेणि में कालधर्म को प्राप्त कर अनुत्तर विमान में गये हुए हों, उन देवों के उपशम सम्यक्त्व भी हो सकता है। इसलिये औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक अथवा औपशमिक, औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इस प्रकार चार-चार भाव भी होते हैं। उपर्युक्त दो सम्यक्त्व में से कोई भी सम्यक्त्व न हो तो पूर्वोक्त तीन भाव होते हैं। मात्र सम्यक्त्व क्षायोपशमिक होता है।

पर्याप्त संज्ञी जीवों में तो चौदह गुणस्थान संभव होने से गुणस्थान क्रम से जिस प्रकार भावों का निर्देश किया है, तदनु रूप सभी भाव समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार से भावद्वार की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब अल्प-बहुत्व का विचार प्रारम्भ करते हैं।

अल्पबहुत्व प्ररूपणा

थोवा गबभयमणुया तत्तो इत्थीओ तिघणगुणियाओ ।

बायरतेउक्काया तासिमसंखेज्ज पज्जता ॥६५॥

शब्दार्थ—थोवा—स्तोक, अल्प, गबभय—गर्भज, मणुया—मनुष्य, तत्तो—उनके, इत्थीओ—स्त्रिया, तिघणगुणियाओ—त्रिघनगुणी (तीन का

जितना घन होता है, उतनी गुणी) बायर—बादर, तेजस्काया—तेजस्काय, तासिमसंखेज्ज—उनसे भी असंख्यात गुणे, पज्जत्ता—पर्याप्त ।

गाथार्थ—गर्भज मनुष्य स्तोक—अल्प हैं, उनसे स्त्रियां तीन का जितना घन होता है, उतनी गुणी हैं और उनसे बादर पर्याप्त तेजस्काय जीव असंख्यात गुणे हैं ।

विशेषार्थ—कतिपय प्रकार के सांसारिक जीवों की यथाक्रम से अल्पाधिकता बतलाते हुए कहा है—

‘थोवा गब्भय मणुया’ अर्थात् गर्भज मनुष्य अल्प हैं क्योंकि उनकी संख्या मात्र संख्यात कोडाकोडी है । इसका आशय यह जानना चाहिए कि आगे स्त्रियों के सम्बन्ध में पृथक् से निर्देश किया है अतः पुरुष रूप गर्भज मनुष्य अल्प हैं । पुरुष रूप गर्भज मनुष्यों से उनकी स्त्रियां तीन का जितना घन होता है, उतनी गुणी हैं, यानि सत्ताईस गुणी हैं और साथ में सत्ताईस अधिक है^१ तथा मनुष्य रूप स्त्रियों से पर्याप्त बादर तेजस्काय के जीव असंख्यात गुणे हैं । क्योंकि वे कुछ वर्ग न्यून आवलिका के घन के जितने समय होते हैं, उतने हैं । इसका स्पष्टीकरण पहले द्रव्यप्रमाण प्ररूपणा में किया जा चुका है ।

अब देव और नारकों के अल्पबहुत्व का प्रमाण बतलाते हैं—

तत्तोणुत्तरदेवा तत्तो संखेज्ज जाणओ कप्पो ।

तत्तो असंखगुणिया सत्तम छट्ठी सहस्सारो ॥६६॥

सुक्कंमि पंचमाए लंतय चोत्थीए बंभ तच्चाए ।

माहिंदसणंकुमारे दोच्चाए मुच्छिमा मणुया ॥६७॥

१ तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाणं इत्थिया मुण्येव्वा ।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाणं तदहिया चेव ॥

शब्दार्थ—तत्तोणुत्तरदेवा—उनसे अनुत्तर देवा, तत्तो—उनसे, संखेज्ज—संख्यातगुणे, जाणओ—आनत तक के, कप्पो—कल्प, तत्तो—उनसे, असंख-गुणिया—असंख्यातगुणे, सत्तम छट्ठी—सातवीं और छट्ठी पृथ्वी के नारक, सहस्सारी—सहस्रार स्वर्ग के देव ।

सुवकमि—शुक्र में, पंचमाए—पांचवीं पृथ्वी में, लांतक—लांतक में, चौथीए—चौथी पृथ्वी में, बंभ—ब्रह्म देवलोक, तच्चाए—तीसरी पृथ्वी में, माहिंदसणकुमारे—माहेन्द्र और सनत्कुमार देवलोक में, दोच्चाए—दूसरी पृथ्वी में, मुच्छिमा—संमूर्च्छिम, मणुया—मनुष्य ।

गाथार्थ—उनसे अनुत्तर देव असंख्यात गुणे हैं, उनमें आनत कल्प तक के देव अनुक्रम से संख्यात गुणे हैं, उनसे क्रमशः सातवीं और छठी पृथ्वी के नारक तथा सहस्रार देव असंख्यात गुणे हैं ।

शुक्र कल्प और पांचवीं नरक पृथ्वी में, लांतक में, चौथी नरक-पृथ्वी में, ब्रह्म देवलोक में, तीसरी नरकपृथ्वी में, माहेन्द्र कल्प में, सनत्कुमार देवलोक में और दूसरी नरकपृथ्वी में उत्तरोत्तर अनुक्रम से असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे जीव हैं । उनसे संमूर्च्छिम मनुष्य असंख्यातगुणे हैं ।

विशेषार्थ—बादर पर्याप्त तेजस्काय जीवों से अनुत्तर विमानवासी देव असंख्यातगुण हैं । क्योंकि वे क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवे भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण हैं । उन अनुत्तर देवों से आनत कल्प तक के देव अनुक्रम से संख्यातगुणे हैं । वे इस प्रकार जानना चाहिए ।

अनुत्तर विमानवासी देवों में उपरितन ग्रैवेयक के प्रतर के देव संख्यातगुण हैं । क्योंकि वे क्षेत्र पल्योपम के बड़े असंख्यातवे भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण हैं और इसका कारण यह है कि अनुत्तर विमानों की अपेक्षा ग्रैवेयक विमान अधिक हैं । वे इस प्रकार जानना चाहिए कि अनुत्तर देवों के तो पांच ही विमान हैं और ग्रैवेयक के

ऊपर के प्रस्तर—प्रतर में सौ विमान हैं और प्रत्येक विमान में असंख्यात देव रहते हैं ।

जैसे-जैसे नीचे-नीचे के विमानवासी देवों का विचार किया जाये वैसे-वैसे उनके अन्दर अधिक-अधिक देव निवास करने वाले होते हैं । अतएव यह अर्थ निकला कि अनुत्तर विमानवासी देवों की अपेक्षा क्षेत्र पल्योपम के बड़े असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण ग्रैवेयक के ऊपर के प्रतर के देव हैं । ग्रैवेयक के ऊपर के प्रतर के देवों से ग्रैवेयक के मध्यम प्रतर के देव संख्यातगुणे हैं, उनसे ग्रैवेयक के नीचे के प्रतर के देव संख्यातगुणे हैं ।

ग्रैवेयक के नीचे के प्रतर के देवों से अच्युतकल्प के देव संख्यात गुणे हैं । यद्यपि आरण और अच्युत कल्प समश्रेणि में हैं और समान विमान संख्या वाले हैं तथापि अच्युत देवों से आरणकल्प के देव संख्यातगुणे हैं । क्योंकि आरणकल्प दक्षिण दिशा में है और अच्युत-कल्प उत्तर दिशा में है । दक्षिण दिशा में तथास्वभाव से कृष्णपाक्षिक जीव अधिक उत्पन्न होते हैं । कृष्णपाक्षिक जीव अधिक हैं और शुक्ल-पाक्षिक अल्प होते हैं । इस कारण अच्युतकल्प की अपेक्षा आरणकल्प में देवों का संख्यातगुणत्व संभव है ।

इसी प्रकार आनत और प्राणत कल्प के लिए भी जान लेना चाहिये । आरणकल्पवासी देवों से प्राणतकल्प के देव संख्यातगुणे हैं । उनसे आनतकल्प के देव संख्यातगुणे हैं । क्योंकि आनतकल्प दक्षिण दिशा में और प्राणतकल्प उत्तर दिशा में है ।

अनुत्तर विमानवासी देवों से लेकर आनतकल्पवासी देवों पर्यन्त सभी देव प्रत्येक क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में विद्यमान आकाश प्रदेश राशि प्रमाण हैं और अनुक्रम से क्षेत्र पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक अधिक संख्या वाला लेना चाहिये ।

आनतकल्पवासी देवों से सातवीं नरकपृथ्वी के नारक असंख्यात-गुणे हैं । क्योंकि वे घनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी सूचिश्रेणि के

असंख्यातवें भाग में विद्यमान आकाशप्रदेश प्रमाण हैं। उनसे छठी नरकपृथ्वी तमप्रभा के नारक असंख्यातगुण हैं।

इन छठी पृथ्वी के नारकों से भी सहस्रार कल्पवासी देव असंख्यात-गुणे हैं। छठी नरकपृथ्वी के नारकों के प्रमाण में हेतुभूत जो श्रेणि का असंख्यातवां भाग कहा है, उसकी अपेक्षा सहस्रार कल्पवासी देवों के प्रमाण में हेतुभूत श्रेणि का असंख्यातवां भाग असंख्यात गुणा बड़ा होने से सहस्रार कल्पवासी देव असंख्यातगुण हैं।

इन सहस्रारकल्प के देवों से महाशुक्रकल्प के देव असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि सहस्रार देवलोक में सिर्फ छह हजार और महाशुक्रकल्प में चालीस हजार विमान हैं तथा नीचे-नीचे के विमानवासी देव अधिक-अधिक तथा ऊपर-ऊपर के विमानवासी देव अल्प संख्या में होते हैं।

प्रश्न—ऊपर-ऊपर के देवों के अल्प मानने का कारण क्या है ?

उत्तर—ऊपर-ऊपर के कल्पों की सम्पत्ति उत्तरोत्तर गुणप्रकर्ष के योग से अधिक-अधिक पुण्यशाली जीव प्राप्त कर सकते हैं और नीचे-नीचे के विमानों की सम्पत्ति अनुक्रम से हीन-हीन गुण के योग से अल्प-अल्प पुण्य वाले जीव प्राप्त करते हैं। उत्तरोत्तर अधिक-अधिक पुण्यप्रकर्ष वाले पुण्यशाली जीव स्वभाव से ही अल्प-अल्प और हीन-हीन गुणयुक्त अल्प पुण्यवान जीव अधिक होते हैं, जिससे ऊपर-ऊपर के विमानों में देवों को संख्या अल्प-अल्प और नीचे-नीचे के विमानों में अधिक-अधिक होती है। इसी कारण सहस्रारकल्प के देवों से महा-शुक्रकल्प के देव असंख्यातगुणे बतलाये हैं।

महाशुक्रकल्प के देवों से पांचवीं नरकपृथ्वी के नारक असंख्यात-गुण हैं। क्योंकि वे श्रेणि के बड़े असंख्यातवें भाग में वर्तमान आकाश-प्रदेश राशिप्रमाण हैं।

पांचवीं नरकपृथ्वी के नारकों से भी लांतककल्प के देव असंख्यात-गुणे हैं। क्योंकि वे श्रेणि के बृहत्तर असंख्यातवें भाग में विद्यमान आकाशप्रदेश राशिप्रमाण हैं।

लांतककल्प के देवों से भी पंकप्रभा नामक चौथी नरकपृथ्वी के नारक असंख्यातगुण हैं। लांतक देवों के प्रमाण में हेतुभूत श्रेणि के असंख्यातवें भाग की अपेक्षा चौथी नरकपृथ्वी के नारकों के प्रमाण में हेतुभूत श्रेणि का असंख्यातवां भाग असंख्यातगुण बड़ा है।

चौथी नरकपृथ्वी के नारकों की अपेक्षा ब्रह्म देवलोक के देव असंख्यातगुणे हैं। इनके असंख्यातगुणे होने का विचार महाशुक्र देवों की संख्या को बताने के प्रसंग में जैसा किया गया है, तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

ब्रह्म देवलोक के देवों से तीसरी नरकपृथ्वी के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे भी माहेन्द्रकल्प के देव असंख्यातगुणे हैं। उनसे भी सनत्कुमारकल्प के देव असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि सनत्कुमारकल्प में बारह लाख और माहेन्द्रकल्प में आठ लाख विमान हैं तथा सनत्कुमारकल्प दक्षिण दिशा में है और माहेन्द्रकल्प उत्तर दिशा में एवं तथास्वभाव से कृष्णपाक्षिक जीव दक्षिण दिशा में और शुक्लपाक्षिक जीव उत्तर दिशा में अधिक उत्पन्न होते हैं। स्वभाव से कृष्णपाक्षिक जीव अधिक और शुक्लपाक्षिक जीव अल्प होते हैं। इसलिए माहेन्द्रकल्प के देवों की अपेक्षा सनत्कुमारकल्प के देव असंख्यातगुणे घटित होते हैं।

इन सनत्कुमारकल्प के देवों से भी दूसरी नरकपृथ्वी के नारक अत्यधिक बड़े श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होने से असंख्यातगुणे हैं।

सातवीं नरकपृथ्वी से लेकर दूसरी नरकपृथ्वी पर्यन्त प्रत्येक पृथ्वी के नारकों की स्वस्थान में संख्या सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग में विद्यमान आकाशप्रदेश राशिप्रमाण है। मात्र पूर्व-पूर्व सूचिश्रेणि के असंख्यातवें भाग की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूचिश्रेणि का असंख्यातवां भाग अधिक-अधिक बड़ा लेना चाहिये। जिससे उपर्युक्त अल्पबहुत्व घटित हो सकता है।

दूसरी नरकपृथ्वी के नारकों की संख्या की अपेक्षा समूच्छिम मनुष्य असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि वे अंगुलमात्र क्षेत्र

में रहे हुए आकाशप्रदेश के तीसरे मूल के साथ पहले मूल का गुणाकार करने पर जितनी प्रदेशराशि आती है, उतने-उतने प्रमाण वाली एक प्रादेशिकी एक सूचिश्रेणि में जितने खंड होते हैं उसमें से कतिपय करोड प्रमाण गर्भज मनुष्यों को कम करने पर जो प्रमाण होता है, उतने हैं। जिससे वे असंख्यातगुणे कहे गये हैं।

इस प्रकार अनुत्तर देवों से लेकर सनत्कुमारकल्प के देवों तक का अल्प-बहुत्व बतलाने के बाद अब सौधर्म, ईशान के देवों, देवियों और भवनवासी देवों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

ईसाणे सव्वत्थवि बत्तीसगुणाओ होंति देवीओ ।

संखेज्जा सोहम्मे तओ असंखा भवणवासी ॥६८॥

शब्दार्थ—ईसाणे—ईशान देवलोक के, सव्वत्थवि—सर्वत्र भी, बत्तीसगुणाओ—बत्तीसगुणी, होंति—होती है, देवीओ—देवियां, संखेज्जा—संख्यातगुणे, सोहम्मे—सौधर्म देवलोक के, तओ—उनसे, असंखा—असंख्यात-गुणे, भवणवासी—भवनवासी देव ।

गाथार्थ—उनसे ईशान देवलोक के देव असंख्यातगुणे हैं। देवियां सर्वत्र बत्तीसगुणी हैं। सौधर्म देवलोक के देव संख्यातगुणे और भवनवासी असंख्यातगुणे हैं ।

विशेषार्थ—संमूर्च्छिम मनुष्यों से ईशान देवलोक के देव असंख्यात-गुणे हैं। इसका कारण यह है कि एक अंगुलप्रमाण क्षेत्र में वर्तमान आकाशप्रदेश राशि के दूसरे वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल से गुणा करने पर जो संख्या आती है, उतनी घनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ईशानकल्प में देव-देवियों का समूह है। समस्त देव-देवियों की संख्या को बत्तीस से भाग देने पर प्राप्तसंख्या में से एकरूप कम करने पर जो आये, उतने ईशानकल्प के देव हैं। इसलिये संमूर्च्छिम मनुष्यों से ईशानकल्प के देव असंख्यातगुणे बताये हैं।

ईशानकल्प के देवों से उसकी देवियां संख्यातगुणी हैं। क्योंकि वे बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक होती हैं।

सौधर्मकल्प और ज्योतिष्क आदि देवों के प्रत्येक भेद में देवों से देवियां बत्तीसगुणी तथा बत्तीस अधिक हैं। स्त्रियों की संख्या का प्रमाण बतलाने वाला जीवाभिगमसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

‘तिरिक्खजोणियपुरिसेहितो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिगुणाओ तिरूवा-
हियाओ मणुस्सपुरिसेहितो मणुस्सीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरूवाहियाओ
य । देवपुरिसेहितो देवीओ बत्तीसगुणाओ बत्तीसरूवत्तराओ य इति ।’

अर्थात् तिर्यंच पुरुषों से तिर्यंच स्त्रियां तिगुनी और तीन अधिक, मनुष्य पुरुषों से मनुष्य स्त्रियां सत्ताईस गुणी और सत्ताईस अधिक और देवपुरुषों से देव स्त्रियां बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक हैं।

ईशानकल्प की देवियों से सौधर्मकल्प के देव, विमान अधिक होने से संख्यातगुणे हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

ईशान देवलोक में अट्ठाईस लाख और सौधर्म देवलोक में बत्तीस लाख विमान हैं तथा सौधर्मकल्प दक्षिण दिशा में और ईशानकल्प उत्तर दिशा में है। दक्षिण दिशा में कृष्णपाक्षिक जीवों के अधिक उत्पन्न होने के कारण और जीवस्वभाव से कृष्णपाक्षिक जीवों की संख्या अधिक होने से ईशानकल्प की देवियों से सौधर्मकल्प के देव संख्यातगुणे हैं।

प्रश्न—सौधर्मकल्प के देवों के संख्यातगुणे होने में जो युक्ति दी है, उसी युक्ति के अनुसार माहेन्द्र देवलोक की अपेक्षा सनत्कुमारकल्प के देवों को भी संख्यातगुणा कहना चाहिए था। क्योंकि दोनों स्थान पर युक्ति समान है तो फिर माहेन्द्रकल्प के देवों से सनत्कुमारकल्प के देवों को असंख्यातगुणे और सौधर्मकल्प के संख्यातगुणे बताने का क्या कारण है ?

उत्तर—प्रज्ञापनासूत्र के महादंडक के अनुसार यहाँ अल्पबहुत्व

का निर्देश किया है।^१ अतएव इसमें किसी प्रकार की आशंका नहीं करनी चाहिए।

सौधर्मकल्प के देवों से उसकी देवियां बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक हैं।

सौधर्मकल्प की देवियों से भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं। वह इस प्रकार जानना चाहिए कि अंगुलप्रमाण क्षेत्र में वर्तमान आकाश-प्रदेश के पहले वर्गमूल को दूसरे वर्गमूल के साथ गुणा करने पर आकाशप्रदेशों की जो संख्या हो उतनी घनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश होते हैं उतने भवनपति देव-देवियों की संख्या है और उसके बत्तीसवें भाग में से एक न्यून भवनपति देव हैं। इस कारण सौधर्मकल्प की देवियों से भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं। भवनवासी देवों से उनकी देवियां बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक हैं।

इस प्रकार वैमानिक और भवनवासी देव-देवियों का अल्पबहुत्व जानना चाहिए। अब पूर्व में नहीं कहा गया रत्नप्रभा के नारकों, खेचर पंचेन्द्रिय पुरुषों आदि का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

रयणप्पभिया खहयरपणिदि संखेज्ज तत्तिरिक्खीओ ।

सव्वत्थ तओ थलयर जलयर वण जोइसा चेवं ॥६६॥

शब्दार्थ—रयणप्पभिया—रत्नप्रभा के नारक, खहयरपणिदि—खेचर पंचेन्द्रिय, संखेज्ज—संख्यातगुण, तत्तिरिक्खीओ—उनकी तिर्यचनी (स्त्रियां), सव्वत्थ—सर्वत्र, तओ—उत्तसे, थलयर—थलचर, जलयर—जलचर, वण—व्यंतर, जोइसा—ज्योतिष्क, चेवं—और इसी प्रकार।

गाथार्थ—उनसे रत्नप्रभा के नारक और खेचर पंचेन्द्रिय पुरुष उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं, उनकी स्त्रियां संख्यातगुणी हैं,

१ प्रज्ञापनासूत्रगत महादंडक को परिशिष्ट में देखिए।

उनसे थलचर, जलचर, व्यंतर और ज्योतिष्क देव इसी प्रकार उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—पूर्व में बताई गई भवनवासी देवियों की संख्या से रत्नप्रभापृथ्वी के नारक असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि अंगुल प्रमाण क्षेत्र की प्रदेशराशि के साथ उसके पहले वगमूल का गुणा करने पर जो प्रदेशसंख्या प्राप्त होती है, उतनी सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेश प्रमाण वे हैं।

रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों से भी खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यच पुरुष असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेश प्रमाण हैं प्रथम नरकपृथ्वी के नारकों के प्रमाण में हेतुभूत सूचिश्रेणि से खेचर पंचेन्द्रिय पुरुषों की प्रमाणभूत सूचिश्रेणि असंख्यातगुणी होने से वे असंख्यातगुणे हैं।

खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यच पुरुषों से उनकी स्त्रियां संख्यातगुणी हैं। क्योंकि वे तिगुनी और तीन अधिक होती हैं। इसी प्रकार तिर्यचों में सर्वत्र अपनी-अपनी जाति में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां संख्यातगुणी अर्थात् तिगुनी और तीन अधिक जानना चाहिए।

खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यच स्त्रियों से थलचर पुरुष संख्यातगुणे हैं। क्योंकि प्रतर के बड़े असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात सूचिश्रेणि की प्रदेशराशि प्रमाण हैं। उनसे भी उनको स्त्रियां तिगुनी और तीन अधिक हैं।

थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यच स्त्रियों से भी मत्स्य, मगर आदि जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यच पुरुष संख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे प्रतर के बहुत बड़े असंख्यातवें भाग में विद्यमान असंख्यात सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेश प्रमाण हैं। उनसे उनकी स्त्रियां तिगुनी और तीन अधिक हैं।

उन जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यच स्त्रियों से व्यंतर पुरुष संख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे संख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण सूचिश्रेणि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, सामान्यतः पुरुष और स्त्री दोनों मिलकर

व्यंतर हैं। यहाँ केवल पुरुष की विवक्षा होने से वे सम्पूर्ण समूह की अपेक्षा बत्तीसवें भाग से एकरूप हीन हैं। जिससे जलचर स्त्रियों से व्यंतर पुरुष संख्यातगुणे घटित होते हैं। उनसे भी व्यंतर देवियां बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक हैं।

व्यंतर देवियों से भी ज्योतिष्क पुरुषदेव संख्यातगुणे हैं। सामान्यतः ज्योतिष्क देव दोसौ छप्पन अंगुल प्रमाण सूचिश्रेणि सरीखे एक प्रतर के जितने खण्ड होते हैं, उतने हैं।

मात्र यहाँ पुरुषदेव की विवक्षा होने से वे अपने सम्पूर्ण समूह की संख्या की अपेक्षा बत्तीसवें भाग से एकरूप न्यून हैं। जिससे व्यंतर देवियों से ज्योतिष्क पुरुषदेव संख्यातगुणे घटित होते हैं। ज्योतिष्क पुरुषदेवों से उनकी देवियां बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक हैं। क्योंकि पूर्व में कहा जा चुका है कि देवों में सर्वत्र बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक देवियां होती हैं। इसी नियम के अनुसार ज्योतिष्क देवियों को ज्योतिष्क देवपुरुषों से बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक जानना चाहिये।

अब नपुंसक खेचर आदि के अल्पबहुत्व का प्रमाण बतलाते हैं—

तत्तो नपुंसखहयर संखेज्जा थलयर जलयर नपुंसा ।

चउरिदि तओ पणबितिइंदियपज्जत्त किंचि (च)हिया ॥७०॥

शब्दार्थ—तत्तो—उनसे, नपुंस—नपुंसक, खहयर—खेचर, संखेज्जा—संख्यातगुणे, थलयर—थलचर, जलयर—जलचर, नपुंसा—नपुंसक, चउरिदि—चतुरिन्द्रिय, तओ—उनसे, पणबितिइंदिय—पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, पज्जत्त—पर्याप्त, किंचिहिया—विशेषाधिक।

गाथार्थ—उनसे नपुंसक खेचर संख्यातगुण हैं, उनसे नपुंसक थलचर और जलचर उत्तरोत्तर संख्यातगुण हैं, उनसे चतु-

१ मूल टीका में 'तत्तो असंख खहयर' ऐसा पाठ है।

रिन्द्रिय संख्यातगुणे हैं उनसे पर्याप्त पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं।

विशेषार्थ— पूर्वोक्त ज्योतिष्क देवियों से खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच नपुंसक संख्यातगुणे हैं।^१ उनके संख्यातगुणे होने का कारण यह है कि दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिश्रृणि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, उतने ज्योतिष्क देव हैं। इसको पूर्व में द्रव्यप्रमाण प्ररूपणा में बताया है^२ कि दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिश्रृणी के प्रदेश द्वारा भाजित प्रतर ज्योतिष्क देवों द्वारा अपहृत किया जाता है तथा अंगुल के संख्यातवें भाग सूचिश्रृणि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, उतने पर्याप्त चतुरिन्द्रिय हैं। पहले द्रव्यप्रमाण अधिकार^३ में कहा है कि पर्याप्त और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अनुक्रम से अंगुल के संख्यातवें भाग में वर्तमान आकाशप्रदेश द्वारा भाजित प्रतर का अपहार करते हैं और यहाँ अंगुल के संख्यातवें भाग की अपेक्षा दो सौ छप्पन अंगुल संख्यातगुणे ही होते हैं। इस प्रकार विचार करने पर ज्योतिष्क देवों की अपेक्षा जब पर्याप्त चतुरिन्द्रिय संख्यातगुणे घटित होते हैं तो फिर पर्याप्त चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा संख्यातवें भाग प्रमाण खेचर पंचेन्द्रिय नपुंसकों के लिये तो कहना ही क्या ? अर्थात् वे भी संख्यातगुणे ही होते हैं, असंख्यातगुणे नहीं।

कदाचित् यह कहा जाये कि देव-देवियों की विवक्षा किये बिना सामान्य ज्योतिष्क की अपेक्षा विचार किया जाये तो खेचर पंचेन्द्रिय

१ 'तत्तो असंच' इस पाठ को लेकर यदि ज्योतिष्क देवियों से खेचर नपुंसकों को असंख्यात गुणे बतलाते हैं तो उसका कारण बहुश्रुत गम्य है। क्योंकि इसके बाद पर्याप्त चतुरिन्द्रिय सम्बन्धी जो कहा जायेगा, वह भी ज्योतिष्क देवों की अपेक्षा संख्यातगुणा घटित होता है।

२ इसी अधिकार की गाथा १५ के विवेचन में।

३ गाथा १२ में।

नपुंसक संख्यातगुणे घटित होते हैं, परन्तु ज्योतिष्क देवियों की अपेक्षा असंख्यातगुणे ही होते हैं। तो ऐसा कहना योग्य नहीं है। क्योंकि यदि देवपुरुषों की अपेक्षा देवियां असंख्यातगुणी हों तो कुल देवों की संख्या में से देवपुरुषों की संख्या कम करने पर केवल देवियों की अपेक्षा खेचर पंचेन्द्रिय नपुंसक असंख्यातगुणे घट सकते हैं, परन्तु वैसा है नहीं। इसका कारण पूर्व में बताया जा चुका है कि देवियों की अपेक्षा देव वत्तीसवें भाग ही हैं। इसलिये देवों की कुल संख्या में से देवपुरुषों की संख्या कम करने पर भी ज्योतिष्क देवियों से खेचर नपुंसक संख्यातगुणे ही होते हैं, असंख्यातगुणे नहीं।

खेचर पंचेन्द्रिय नपुंसकों से थलचर पंचेन्द्रिय नपुंसक संख्यातगुणे हैं। उनसे जलचर पंचेन्द्रिय नपुंसक संख्यातगुणे हैं। उनसे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय संख्यातगुणे हैं। उनसे पर्याप्त संज्ञी असंज्ञी रूप दोनों भेद वाले पंचेन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं।

यद्यपि पर्याप्त चतुरिन्द्रिय से लेकर पर्याप्त द्वीन्द्रिय तक के प्रत्येक भेद अंगुल के संख्यातवें भागप्रमाण सूचिश्रेणि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, उतने सामान्य से कहे हैं, तथापि अंगुल का संख्यातवां भाग संख्यात भेदवाला होने से और अनुक्रम से बड़ा-बड़ा ग्रहण किये जाने से ऊपर जो अल्पबहुत्व कहा है, वह विरुद्ध नहीं है।

अब अपर्याप्त पंचेन्द्रियादि विषयक अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

असंखा पण किंचि(च)हिय सेस कमसो अपज्ज उभयओ ।

पंचेदिय विसेसहिया चउतिबेइंदिया तत्तो ॥७१॥

शब्दार्थ—असंखा—असंख्यातगुणे, पण—पंचेन्द्रिय, किंचिहिय—कुछ अधिक, विशेषाधिक, सेस—शेष, कमसो—अनुक्रम से, अपज्ज—अपर्याप्त, उभयओ—उभय (पर्याप्त-अपर्याप्त), पंचेदिय—पंचेन्द्रिय, विसेसहिया—विशेषाधिक, चउतिबेइंदिया—चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, तत्तो—उनसे।

गाथार्थ—उनसे अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातगुणे हैं। तत्पश्चात् अनुक्रम से अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय आदि विशेषाधिक, विशेषाधिक है। उनसे पर्याप्त अपर्याप्त पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं।

विशेषार्थ—पर्याप्त त्रीन्द्रिय से अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातगुणे हैं। उनसे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। यद्यपि अपर्याप्त पंचेन्द्रिय से लेकर अपर्याप्त द्वीन्द्रिय पर्यन्त के प्रत्येक भेद अंगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण सूचित्रेणि सरीखे एक प्रतर के जिसने खंड होते हैं, सामान्य से उतने कहे हैं, तथापि अंगुल का असंख्यातवां भाग छोटा-बड़ा लिया जाने से किसी प्रकार से विरोध नहीं है।

अपर्याप्त द्वीन्द्रिय से पर्याप्त-अपर्याप्त रूप पंचेन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त-अपर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे भी पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। अर्थात् पर्याप्त-अपर्याप्त पंचेन्द्रियादि के अल्पबहुत्व के प्रसंग में यह जानना चाहिये कि पंचेन्द्रिय अल्प हैं और विपरीतपने से चतुरिन्द्रिय से द्वीन्द्रिय पर्यन्त विकलेन्द्रिय विशेषाधिक हैं।

अब पर्याप्त बादर वनस्पतिकायादि सम्बन्धी अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

पज्जत्तबायरपत्तेय तरू, असंखेज्ज इति निगोयाओ ।

पुढवी आऊ वाउ बायरअपज्जत्ततेउ तओ ॥७२॥

शब्दार्थ—पज्जत्त—पर्याप्त, बायर—बादर, पत्तेय—प्रत्येक, तरू—वनस्पति, असंखेज्ज इति—असंख्यातगुणे हैं, निगोयाओ—निगोद, पुढवी—पृथ्वी, आऊ—जल, वाउ—वायु, बायर—बादर, अपज्जत्त—अपर्याप्त, तेउ—तेजस्काय, तओ—उनसे।

गाथार्थ—उनसे अपर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पति के जीव असंख्यातगुणे हैं, उनसे बादर पर्याप्त निगोद असंख्यातगुणे, उनसे

पर्याप्त बादर पृथ्वी, जल, वायुकाय के जीव अनुक्रम से असंख्यात-गुणे हैं और उनसे बादर अपर्याप्त तेजस्काय के जीव असंख्यात-गुणे हैं ।

विशेषार्थ—पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय से पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण सूचिश्रेणि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं उतने वतलाये जा चुके हैं, तथापि अंगुल के असंख्यातवें भाग के असंख्यात भेद होने से बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय के परिमाण के प्रसंग में अंगुल का असंख्यातवां भाग द्वीन्द्रिय के अंगुल के असंख्यातवें भाग से असंख्यातगुण हीन लेना चाहिये । क्योंकि भाजित करने वाला अंगुल का असंख्यातवां भाग छोटा लिया जाये तो उत्तर में बड़ी संख्या प्राप्त होगी । जिससे यहाँ किसी प्रकार से विरोध नहीं है । प्रज्ञापनासूत्र के महादंडक में भी अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के अनन्तर तत्काल बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति असंख्यातगुण कही है ।

कदाचित् यहाँ यह शंका हो कि महादंडक में अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के बाद तत्काल ही बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति के सम्बन्ध में कहे जाने से असंख्यातगुणता घट सकती है । परन्तु यहाँ तो अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के बाद पर्याप्त-अपर्याप्त पंचेन्द्रिय और उसके बाद अनुक्रम से चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय के सम्बन्ध में कहा है । तत्पश्चात् पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पति के लिये कहा है । जिससे वे असंख्यातगुणे किस तरह घट सकते हैं ? बीच में और दूसरे बहुतों के सम्बन्ध में कहने के बाद वनस्पति के सम्बन्ध में कहे जाने से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय से विशेषाधिकपना ही घटित होता है ।

इसका उत्तर यह है कि इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है । क्योंकि यद्यपि बीच में पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि के सम्बन्ध में कहा है, लेकिन वे सभी पूर्व-पूर्व से विशेषाधिक बताये हैं । विशेषाधिक यानि पूर्व संख्या से कुछ अधिक परन्तु संख्यातगुण अधिक नहीं । जिससे

अपर्याप्त द्वीन्द्रिय की अपेक्षा बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति जीव असंख्यात गुण कहे हैं, तो भी महा दंडक में पर्याप्त अपर्याप्त द्वीन्द्रिय की अपेक्षा असंख्यातगुणे ही कहे हैं, यह समझना चाहिये ।

उनसे (पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों से) बादर पर्याप्त निगोदिया जीव-अनन्तकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक असंख्यातगुणे हैं, उनसे पर्याप्त बादर जलकाय जीव असंख्यातगुणे हैं । यहाँ यद्यपि पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वीकाय और जलकाय के जीव अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण सूचिश्रोणि रूप खंड एक प्रतर में जितने होते हैं, उतने सामान्य से बतलाये हैं लेकिन अंगुल के असंख्यातवें भाग के असंख्य भेद हैं, जिससे अंगुल का असंख्यातवां भाग अनुक्रम से असंख्यगुण हीन-हीन ग्रहण किये जाने से इस प्रकार असंख्येयगुण कहने में किसी प्रकार का दोष नहीं आता है । महादंडक में भी असंख्येयगुण कहा है ।

बादर पर्याप्त जलकाय से बादर पर्याप्त वायुकाय जीव असंख्यातगुणे हैं । क्योंकि वे घनीकृत लोक के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्य प्रतर के आकाशप्रदेश प्रमाण हैं । उनसे भी असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होने से अपर्याप्त बादर तेजस्काय जीव असंख्यातगुणे हैं ।

अब अपर्याप्त बादर वनस्पति आदि का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

बादरतरुनिगोया पुढवीजलवाउतेउ तो सुहुमा ।

तत्तो विसेसअहिया पुढवीजलपवणकाया उ ॥७३॥

शब्दार्थ—बादर—बादर, तरु—वनस्पति, निगोया—निगोद, पुढवीजलवाउतेउ—पृथ्वी, जल, वायु और तेजस्काय, तो—उनसे, सुहुमा—सूक्ष्म, तत्तो—उनसे, विसेसअहिया—विशेषाधिक, पुढवीजलपवणकाया—पृथ्वी, जल, और वायुकाय, उ—और ।

गाथार्थ—उनसे बादर अपर्याप्त वनस्पतिकाय असंख्यातगुणे हैं, उनसे अपर्याप्त बादर निगोद असंख्यातगुणे हैं, उनसे अपर्याप्त

बादर पृथ्वी, जल और वायुकाय के जीव उत्तरोत्तर असंख्यात-गुणे हैं, उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी, जल और वायुकाय उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा से अपर्याप्त पद की अनुवृत्ति करके यहाँ यह आशय लेना चाहिये कि अपर्याप्त बादर तेजस्काय जीवों से अपर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे अपर्याप्त बादर निगोदिया जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे अपर्याप्त बादर पृथ्वी-काय जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे अपर्याप्त बादर जलकाय जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे अपर्याप्त बादर वायुकाय जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीव विशेषाधिक हैं । उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म जलकाय जीव विशेषाधिक हैं और उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय जीव विशेषाधिक हैं ।

अब पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय आदि सम्बन्धी अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

संखेज्ज सुहुमपज्जत्त तेउ किंचि (च) हिय भूजलसमीरा ।

तत्तो असंखगुणिया सुहुमनिगोया अपज्जत्ता ॥७४॥

शब्दार्थ—संखेज्ज—संख्यातगुणे, सूहुम—सूक्ष्म, पज्जत्त—पर्याप्त. तेउ—तेजस्काय किंचिहिय—विशेषाधिक, भूजलसमीरा—पृथ्वी, जल और वायुकाय जीव, तत्तो—उनसे, असंखगुणिया—असंख्यातगुणे, सुहुमनिगोया—सूक्ष्म निगोद, अपज्जत्ता—अपर्याप्त ।

गाथार्थ—उनसे सूक्ष्म पर्याप्त तेजस्काय जीव संख्यातगुणे हैं, उनसे पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी, जल और वायु अनुक्रम से विशेषाधिक हैं । उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव असंख्यातगुणे हैं ।

विशेषार्थ—अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय के जीवों से पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय के जीव संख्यातगुणे हैं । क्योंकि अपर्याप्त सूक्ष्म जीवों

से पर्याप्त सूक्ष्म जीव सदैव अधिक होते हैं। उनसे पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी-कायिक जीव विशेषाधिक हैं, उनसे पर्याप्त सूक्ष्म जलकायिक जीव विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय के जीव विशेषाधिक हैं। उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव असंख्यातगुणे हैं।

संखेज्जगुणां तत्तो पज्जत्ताणंतया तओऽभव्वा ।

पडवडियसम्मसिद्धा वण बायरजीव पज्जत्ता ॥७५॥

शब्दार्थ—संखेज्जगुणा—संख्यातगुणे, तत्तो—उनसे, पज्जत्ता—पर्याप्त, णंतया—अनन्त, तओऽभव्वा—उनसे अभव्य, पडिवडिय—प्रतिपतित, सम्म—सम्यग्दृष्टि, सिद्धा—सिद्ध, वण—वनस्पति, बायर—बादर, जीव—जीव, पज्जत्ता—पर्याप्त ।

गाथार्थ—उनसे पर्याप्त अनन्तकाय (निगोदिया) जीव संख्यातगुणे हैं। उनसे अभव्य अनन्तगुणे हैं। उनसे प्रतिपतित सम्यग्दृष्टि अनन्तगुणे, उनसे सिद्ध अनन्तगुणे और उनमें पर्याप्त बादर वनस्पतिकाय जीव अनन्तगुणे हैं।

विशेषार्थ—अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीवों से पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव संख्यातगुणे हैं। यद्यपि सामान्यतया अपर्याप्त तेजस्काय से लेकर पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव पर्यन्त असंख्यात लोकाकाश-प्रदेश प्रमाण कहे जाते हैं, तथापि असंख्यात कं असंख्यात भेद होने से उपर्युक्त अल्पबहुत्व किसी भी तरह से विरुद्ध नहीं है।

पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीवों से अभव्य जीव अनन्तगुणे हैं। क्योंकि वे जघन्य युक्तानन्तप्रमाण हैं।^१

अभव्य जीवों से सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त अनन्तगुणे हैं और उनसे भी सिद्ध जीव अनन्तगुणे हैं और सिद्ध जीवों से पर्याप्त बादर वनस्पतिकाय के जीव अनन्तगुणे हैं।

१ उक्कोसए परित्ताणंतए रूवे पक्खित्ते जहन्नयं जुत्ताणंतयं होइ, अभव्व-सिद्धियावि तत्तिया चव ।

अब सामान्य पर्याप्त बादरादि विषयक अल्पबहुत्व कहते हैं—

किंचि (च) हिया सामन्ना एए उ असंख वण अपज्जत्ता ।

एए सामन्नेणं विसेसअहिया अपज्जत्ता ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ—किंचिहिया—कुछ अधिक (विशेषाधिक), सामन्ना—सामान्य, एए—ये एकेन्द्रिय जीव, उ—और, असंख—असंख्यातगुणे, वण—वनस्पतिकाय, अपज्जत्ता—अपर्याप्त, एए—ये, सामन्नेणं—सामान्यरूप से, विसेसअहिया—विशेषाधिक, अपज्जत्ता—अपर्याप्त ।

गाथार्थ—उनसे सामान्य रूप से पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे अपर्याप्त बादर वनस्पतिकाय असंख्यातगुणे और उनसे सामान्य अपर्याप्त बादर विशेषाधिक हैं ।

विशेषार्थ—पर्याप्त बादर वनस्पतिकाय जीवों से सामान्य रूप से पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं । क्योंकि पर्याप्त बादर पृथ्वीकायादि जीवों का भी उनमें समावेश होता है । उनसे अपर्याप्त बादर वनस्पतिकाय जीव असंख्यातगुणे हैं और उनसे भी वनस्पति आदि विशेषण से रहित बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीव सामान्य रूप से विशेषाधिक हैं ।

अब सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पति आदि के सम्बन्ध में कहते हैं—

सुहुमा वणा असंखा विसेसअहिया इमे उ सामन्ना ।

सुहुमवणा संखेज्जा पज्जत्ता सब्व किंचि(च)हिया ॥७७॥

शब्दार्थ—सुहुमा—सूक्ष्म, वणा—वनस्पतिकाय, असंखा—असंख्यातगुणे, विसेसअहिया—विशेषाधिक, इमे—ये, उ—और, सामन्ना—सामान्य, सुहुमवणा—सूक्ष्म वनस्पतिकाय, संखेज्जा—संख्यातगुणे, पज्जत्ता—पर्याप्त, सब्व—सब, किंचिहिया—कुछ अधिक (विशेषाधिक) ।

गाथार्थ—उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे सामान्य अपर्याप्त सूक्ष्म विशेषाधिक हैं । उनसे

पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव संख्यातगुणे हैं और उनसे सब सूक्ष्म पर्याप्त विशेषाधिक हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में कहे गये अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों से सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पतिकाय जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे सामान्य वनस्पति आदि विशेषण से रहित अपर्याप्त सूक्ष्म जीव विशेषाधिक हैं । क्योंकि अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायादि के जीवों का भी उनमें समावेश होता है ।

अपर्याप्त सूक्ष्म जीवों से पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव संख्यातगुणे हैं । क्योंकि अपर्याप्त सूक्ष्म जीवों से पर्याप्त सूक्ष्म जीव तथास्वभाव से सदैव संख्यातगुणे ही होते हैं और केवलज्ञानी द्वारा वैसा जाना—देखा गया है ।

पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीवों से समस्त पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायादि का भी समावेश हो जाने से सभी पर्याप्त सूक्ष्म जीव विशेषाधिक हैं ।

शंका—पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीवों से सभी पर्याप्त सूक्ष्म जीव असंख्यातगुणे न कहकर विशेषाधिक क्यों कहे गये हैं ? जबकि बहुत बड़ी संख्या वाले सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीवों का भी उनमें समावेश हो जाता है ।

उत्तर—पर्याप्त सूक्ष्म जीव पूर्वोक्त संख्या से किसी भी तरह असंख्यातगुणे नहीं होते हैं । क्योंकि पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीवों की अपेक्षा पर्याप्त पृथ्वीकायादि सभी सूक्ष्म जीव भी बहुत अल्प संख्या वाले हैं । क्योंकि पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पति जीव अनन्त लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण हैं और पृथ्वीकायादि सभी सूक्ष्म पर्याप्त जीव असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण ही हैं ।

अब पर्याप्तापर्याप्त सूक्ष्मादि के सम्बन्ध में बतलाते हैं—

पृज्जत्तापृज्जत्ता सुहुमा किंचि(च)हिया भव्वसिद्धीया ।

तत्तो बायर सुहुमा निगोय वणस्सइजिया तत्तो ॥७८॥

शब्दार्थ—उज्जतापज्जता—पर्याप्त-अपर्याप्त, सुहुमा—सूक्ष्म, किञ्चि-
हिया—कुछ अधिक (विशेषाधिक), भव्वसिद्धीया—भव्वसिद्धिक, तत्तो—
उनसे, बायर—बादर, सुहुमा—सूक्ष्म, निगोद—निगोदिया जीव, वणस्सइ—
वनस्पति, जिया—जीव, तत्तो—उनसे ।

गाथार्थ—उनसे पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म जीव विशेषाधिक हैं ।
उनमे भव्वसिद्धिक जीव विशेषाधिक हैं । उनसे बादर सूक्ष्म
निगोदिया जीव विशेषाधिक हैं और उनसे सभी वनस्पति जीव
विशेषाधिक हैं ।

विशेषार्थ—सभी पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों से पर्याप्त-अपर्याप्त
सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं । उनसे भव्वसिद्धिक जीव
विशेषाधिक हैं । क्योंकि सर्व जीवों की संख्या में से जघन्य युक्तानन्त
प्रमाण अभव्यों की संख्या को कम करने पर शेष सभी जीव भव्य हैं,
अतएव पूर्वोक्त संख्या (पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की
संख्या) से भव्य जीव विशेषाधिक हैं । उनसे भी बादर और सूक्ष्म
दोनों मिले हुए निगोदिया जीव विशेषाधिक हैं । क्योंकि उनमें कितने
ही अभव्य जीवों की संख्या का भी समावेश हो जाता है ।

प्रश्न—भव्य जीवों से बादर और सूक्ष्म निगोदिया जीव संख्यात
या असंख्यातगुणे न बताकर विशेषाधिक क्यों बताये हैं ? क्योंकि
निगोद में भव्य, अभव्य दोनों प्रकार के जीव हैं तथा निगोद के सिवाय
अन्य जीवभेदों में भी भव्य जीव हैं । जिससे निगोद और उनके
अलावा दूसरे जीवभेदों में रहे हुए भव्य जीवों से मात्र निगोदिया
जीव कि जिनमें अनन्त अभव्य भी वर्तमान हैं, वे विशेषाधिक कैसे हो
सकते हैं ?

उत्तर—भव्य जीवों से बादर और सूक्ष्म निगोदिया जीव किसी
भी प्रकार से संख्यात या असंख्यातगुणे घटित नहीं हो सकते हैं ।
क्योंकि यहाँ अभव्य से रहित मात्र भव्यों का विचार किया है । अभव्य
युक्तानंत संख्याप्रमाण हैं और बादर सूक्ष्म निगोद व्यतिरिक्त शेष

सभी जीवों का कुल योग असंख्य लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण ही है, जिससे अभव्यों और भव्यों की बहुत बड़ी संख्या तो बादर निगोद में ही रही हुई है अन्यत्र नहीं तथा भव्य की अपेक्षा अभव्य बहुत ही कम हैं—अनन्तवें भागमात्र हैं, जिससे अभव्य अनन्त जीव सूक्ष्म बादर निगोद में रहे हुए होने पर भी कुल भव्य जीवों से बादर सूक्ष्म निगो-दिया जीवों की संख्या विशेषाधिक ही होती है ।

इन सूक्ष्म बादर निगोदिया जीवों की अपेक्षा सामान्य से वनस्पति जीव विशेषाधिक हैं । क्योंकि उनमें प्रत्येक शरीरी वनस्पतिकाय के जीवों का भी समावेश हो जाता है ।

अब सामान्य एकेन्द्रियादि का अल्पबहुत्व कहते हैं—

एगिंदिया तिरिक्खा चउगइमिच्छा य अविरइजुया य ।

सकसाया छउमत्था सजोगसंसारि सव्वेवि ॥७६॥

शब्दार्थ—एगिंदिया—एकेन्द्रिय, तिरिक्खा—तिर्यंच, चउगइमिच्छा—चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव, य—और, अविरइजुया—अविरतिसहित, य—और, सकसाया—सकषायी, छउमत्था—छद्मस्थ, सजोग—योगवाले, संसारि—संसारी, सव्वेवि—सभी ।

गाथार्थ—उनसे एकेन्द्रिय, तिर्यंच, चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव, अविरति, सकषायी, छद्मस्थ, योग वाले और सभी संसारी जीव उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं ।

विशेषार्थ—समस्त वनस्पतिकाय जीवों से सामान्यतः एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं । क्योंकि बादर और सूक्ष्म पृथ्वीकायादि जीवों की संख्या का भी उनमें समावेश हो जाता है । अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि जीवों की संख्या का भी उनमें समावेश हो जाने से सामान्यतः तिर्यंच उनसे विशेषाधिक हैं ।

तिर्यंचों से चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव विशेषाधिक हैं । क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान वाले कितने ही संज्ञी पंचेन्द्रियों

के सिवाय शेष सभी तिर्यंच मिथ्यादृष्टि हैं। अतः उनका तथा असंख्य मिथ्यादृष्टि नारक, देव और मनुष्य जीवों का उनमें समावेश हो जाता है। जिससे तिर्यंच जीवों की अपेक्षा चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव विशेषाधिक कहे हैं।

चातुर्गतिक मिथ्यादृष्टि जीवों से अविरतियुक्त—बिना विरति के जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि कितने ही अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों का उनमें समावेश होता है।

अविरत जीवों की अपेक्षा कषाययुक्त जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि देशविरत से लेकर सूक्ष्मसपराय पर्यन्त गुणस्थानों में वर्तमान जीवों का उनमें समावेश होता है।

सकषायी जीवों से छद्मस्थ विशेषाधिक हैं। क्योंकि उनमें उपशांत-मोही एवं क्षीणमोही जीवों का भी समावेश है।

छद्मस्थ जीवों से सयोगी जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि उनमें सयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीव भी गर्भित हैं।

सयोगी जीवों से संसारी जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि उनमें अयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीवों का भी समावेश है।

संसारी जीवों की अपेक्षा सभी जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि सिद्ध जीवों का भी उनमें समावेश है।

इस प्रकार सामान्यतः सर्वजीवों की अपेक्षा अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

गुणस्थानापेक्षा अल्पबहुत्व

उवसंतखवगजोगी अपमत्तापमत्त देससासाणा ।

मीसाविरया चउ चउ जहुत्तरं संखंसंखगुणा ॥८०॥

शब्दार्थ—उवसंत—उपशांत, खवग—क्षपक, जोगी—योगी, अपमत्त—अप्रमत्त, पमत्त—प्रमत्त, देस—देशविरति, सासाणा—सासादन गुणस्थानवर्ती, मीसाविरया—मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि, चउ—चार, चउ—चार, जहुत्तरं—उत्तरोत्तर, संखसंखगुणा—संख्यात, असंख्यातगुणे।

गाथार्थ—उपशमश्रेणि वाले उपशमक और उपशांतमोही से क्रमशः क्षपक, सयोगि, अप्रमत्त और प्रमत्त ये चार उत्तरोत्तर संख्यात-संख्यातगुणे हैं और उनसे देशविरत, सासादन, मिश्र और अविरत ये चार उत्तरोत्तर असंख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—गाथा में गुणस्थानापेक्षा जीवों का अल्पबहुत्व बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

गाथोक्त उवसंत पद से चारित्रमोहनीय की उपशमना करने वाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान तथा चारित्रमोहनीय की सर्वथा उपशमना करने वाला ग्यारहवां गुणस्थान, इस तरह दोनों प्रकार के गुणस्थानों का ग्रहण करना चाहिये। इसी तरह गाथोक्त खवग पद से भी चरित्रमोहकी क्षपणा करने वाले आठवें से दसवें गुणस्थान तक और बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान, इस तरह चार गुणस्थानों का ग्रहण करना चाहिये। अतएव उपशांत से वाद के चार गुणस्थानवर्ती जीव उत्तरोत्तर संख्यातगुण हैं और उनसे परे के चार गुणस्थानवर्ती जीव उत्तरोत्तर असंख्यातगुण हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

उपशमक आठवें से दसवें गुणस्थान तक के जीव और उपशांत-मोही जीव सबसे अल्प हैं। क्योंकि श्रेणि के सम्पूर्ण काल की दृष्टि से विचार करने पर भी अधिक से अधिक वे एक, दो, तीन आदि नियत संख्या प्रमाण हैं। उनसे क्षपक और क्षीणमोही जीव संख्यातगुणे हैं। क्योंकि उनकी श्रेणि के सम्पूर्ण काल की दृष्टि से भी उत्कृष्ट संख्या शतपृथक्त्व प्रमाण है। उपशम और क्षपक श्रेणि के विषय में कहा गया उपर्युक्त अल्पबहुत्व जब दोनों श्रेणियों में अधिक से अधिक जीव होते हैं तब घटित होता है। इसका कारण यह है कि किसी समय इन दोनों श्रेणियों में कोई जीव होता भी नहीं है। किसी समय दोनों में होते हैं और समान होते हैं, किसी समय उपशमक कम और क्षपक जीव अधिक होते हैं, किसी समय क्षपक कम और उपशमक अधिक होते हैं, इस प्रकार अनियतता से होते हैं।

क्षपक जीवों से सयोगिकेवली संख्यातगुणे हैं। क्योंकि कम से कम वे कोटिपृथक्त्व होते हैं।

उनसे अप्रमत्तयति संख्यातगुणे हैं, क्योंकि वे दो हजार करोड प्रमाण हो सकते हैं ।

उनसे प्रमत्तविरत जीव संख्यातगुणे हैं । क्योंकि वे कोटिसहस्र-पृथक्त्व होते हैं ।

उनसे भी देशविरत असंख्यातगुणे हैं और उनके असंख्यातगुणे होने का कारण असंख्यात^१ तिर्यचों को देशविरतगुणस्थान होना संभव है ।

उनसे भी सासादनसम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणे हैं । यह गुण-स्थान अनित्य होने से जब उसमें उत्कृष्ट संख्या होती है तब यह अल्प-बहुत्व घटित होता है । क्योंकि किसी समय वे सर्वथा होते भी नहीं हैं और यदि किसी समय होते हैं तब जघन्य से एक दो भी होते हैं और उत्कृष्ट से देशविरति के प्रमाण में हेतुभूत क्षेत्र पल्योपम के असंख्या-तवें भाग की अपेक्षा असंख्यातगुण व क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में वर्तमान आकाशप्रदेश प्रमाण होते हैं ।

उनसे मिश्रदृष्टि जीव असंख्यातगुणे हैं । वे सासादन के प्रमाण में हेतुभूत क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग की अपेक्षा असंख्यातगुणे बड़े क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में रखे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण हैं । यह गुणस्थान भी अनित्य होने से जब उसमें उत्कृष्ट संख्या हो तभी यह अल्पबहुत्व घटित होता है । जब होते हैं तब जघन्य से एक दो जीव होते हैं और उत्कृष्ट से उपर्युक्त संख्या होती है ।

उनसे भी अविरतसम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणे हैं । क्योंकि वे मिश्रदृष्टि की अपेक्षा असंख्यात गुणे बड़े क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण हैं ।

अब उपर्युक्त गुणस्थानों से शेष रहे गुणस्थानों सम्बंधी अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

१ यहाँ असंख्यात का प्रमाण क्षेत्रपल्योपम का असंख्यातवां भाग जानना चाहिये ।

उक्कोसपए संता मिच्छा तिसु गईसु होतसंखगुणा ।

तिरिए सणंतगुणिया सन्निसु मणुएसु संखगुणा ॥८१॥

शब्दार्थ—उक्कोसपए—उत्कृष्ट पद में, संता—होते हैं, मिच्छा— मिथ्या-दृष्टि जीव, तिसु गईसु—तीनों गतियों में, होतसंखगुणा—असंख्यातगुणे हैं, तिरिए—तिर्यंचगति में, सणंतगुणिया—वे अनन्तगुणे, सन्निसु—संज्ञी, मणुएसु—मनुष्यों में, संखगुणा—संख्यातगुणे ।

गाथार्थ—(तिर्यंच के सिवाय) तीन गतियों में उत्कृष्ट पद में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यातगुणे होते हैं । उनसे तिर्यंचगति में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तगुणे हैं और संज्ञी मनुष्य संख्यातगुणे हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व में सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त बारह गुणस्थानों सम्बन्धी अल्पबहुत्व का निर्देश किया है । अब शेष रहे मिथ्यादृष्टि और अंतिम चौदहवें अयोगिकेवलीगुणस्थान सम्बन्धी अल्पबहुत्व को बतलाते हैं ।

पूर्वोक्त अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों से नारक, मनुष्य और देव इन तीन गतियों में उत्कृष्ट पद में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यातगुणे हैं और उनसे भी तिर्यंचगति में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव सभी निगो-दिया जीवों के मिथ्यात्वी होने से अनन्तगुणे हैं तथा गर्भज मनुष्यों में अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले मनुष्यों से मिथ्यादृष्टि मनुष्य संख्यातगुणे ही हैं । क्योंकि कुल मिलाकर वे संख्या में संख्यात ही हैं तथा भवस्थ अयोगिकेवली जीव क्षपक तुल्य जानना चाहिये । क्योंकि उनकी संख्या भी अधिक से अधिक शतपृथक्त्व प्रमाण ही होती है और अभवस्थ अयोगिकेवली अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों से अनन्तगुणे हैं । क्योंकि सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी अयोगि हैं ।

इस प्रकार अल्पबहुत्व प्ररूपणा जानना चाहिये । इसके साथ ही

सत्पदादि प्ररूपणाओं का विचार समाप्त होता है। अब पूर्व में जीवों के चौदह भेदों का वर्णन किया गया है। उन चौदह भेदों का नाम बतलाते हैं।

जीवस्थानों के भेद और नाम

एगिन्दियसुहुमियरा सन्नियर पर्णिन्दिया सदि-त्ति-चऊ।

पज्जत्तापज्जत्ताभेएणं चोद्दसग्गामा ॥८२॥

शब्दार्थ—एगिन्दिय—एकेन्द्रिय, सुहुमियरा—सूक्ष्म और इतर-बादर, सन्नियर—संज्ञी और इतर-असंज्ञी, पर्णिन्दिया—पंचेन्द्रिय, सवित्तिचऊ—द्वि, त्रि चतुः-इन्द्रिय सहित, पज्जत्तापज्जत्ता—पर्याप्त-अपर्याप्त, भेएणं—भेद से, चोद्द-सग्गामा—चौदह प्रकार।

गाथार्थ—सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय सहित इन सातों के पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से जीवों के चौदह प्रकार हैं।

विशेषार्थ—गाथा में चौदह जीवस्थानों के नाम बतलाये हैं। जिन्हें जीवग्राम भी कहते हैं। उन जीवस्थानों के नाम इस प्रकार हैं—

सूक्ष्म नामकर्म के उदयवाले सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय वाले बादर, इस तरह एकेन्द्रिय दो प्रकार हैं। अर्थात् सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय ये एकेन्द्रिय के दो भेद हुए तथा 'सन्नियर पर्णिन्दिया' अर्थात् संज्ञी और असंज्ञी इस तरह पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं तथा 'सवित्तिचउ' अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, इस प्रकार कुल मिला कर जीवों के सात भेद होते हैं। ये प्रत्येक पर्याप्त एवं अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं अर्थात् ये पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी। अतएव पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा सात-सात प्रकारों को मिलाने से जीवों के कुल चौदह भेद होते हैं। जो जीवस्थान, जीवग्राम अथवा भूतग्राम कहलाते हैं।

इन चौदह जीवस्थानों का पहले विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। अतः तदनुसार इनका स्वरूप जान लेना चाहिये। अब पूर्व में जो यह कहा था कि जीवस्थानों में अंतिम संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त भेद गुणस्थानों की अपेक्षा से चौदह प्रकार का होता है, अतः उन गुणस्थानों के नाम बतलाते हैं।

गुणस्थानों के नाम

मिच्छा सासणमिस्सा अविरयदेसा पमत्ता अपमत्ता ।

अपुव्व बायर सुहुमोवसंतखीणा सजोगियरा ॥८३॥

शब्दार्थ—मिच्छा—मिथ्यात्व, सासण—सासादन, मिस्सा—मिश्र, अविरय—अविरतसम्यग्दृष्टि, देसा—देशविरत, पमत्ता—प्रमत्तविरत, अपमत्ता—अप्रमत्तविरत, अपुव्व—अपूर्वकरण, बायर—अनिवृत्तिबादर, सुहुमोवसंत—सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोह, खीणा—क्षीणमोह, सजोगियरा—सयोगि और इतर अयोगि ।

गाथार्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्व, बादर, सूक्ष्म, उपशांत, क्षीण, सयोगि और इतर-अयोगि ये चौदह गुणस्थानों के नाम हैं।

विशेषार्थ—गाथा में चौदह गुणस्थानों के नामों का संकेतमात्र किया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादनसम्यग्दृष्टि, (३) मिश्रदृष्टि, (४) अविरतसम्यग्दृष्टि, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तसंयत, (७) अप्रमत्तसंयत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिबादरसंपराय, (१०) सूक्ष्मसंपराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगिकेवली और (१४) अयोगिकेवली। प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ने से इनका पूरा नाम हो जाता है। यथा—मिथ्यात्वगुणस्थान, सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान आदि। इनका स्वरूप पहले योगोपयोगमार्गणा अधिकार में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अतएव यहाँ उनका पुनः वर्णन नहीं किया है।

इस प्रकार गुणस्थानों के नाम बतलाने के बाद अब गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव कर्म का बंध करते हैं, उसको बतलाते हैं—

तेरस विबंधगा ते अट्ठविहं बंधियव्वयं कम्मं ।

मूलुत्तरभेयं ते साहिमो ते निसामेह ॥८४॥

शब्दार्थ—तेरस—तेरह गुणस्थानवर्ती, विबंधगा—बंधक, ते—वे, अट्ठविहं—आठों प्रकार के, बंधियव्वयं—बंधनेयोग्य, कम्मं—कर्म के, मूलुत्तरभेयं—मूल और उत्तर के भेद वाले, ते—उनको, साहिमो—कहते हैं—बतलाते हैं, ते—उनको, निसामेह—सुनो ।

गाथार्थ—तेरह गुणस्थानवर्ती जीव मूल और उत्तर भेदवाले बंधनेयोग्य आठ प्रकार के कर्मों के बंधक हैं । अब उनको बतलाते हैं, जिसे तुम सुनो ।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानों में वर्तमान जीव यथायोग्य रीति से प्रतिसमय आठ, सात, छह या एक कर्म को बांधते हैं । किन्तु अयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीव बंधहेतुओं का अभाव होने से एक भी कर्म का बंध नहीं करते हैं ।

बंधनेयोग्य वस्तु के बिना किसी भी तरह से कोई भी बंधक नहीं हो सकता है । वह बंधनेयोग्य वस्तु मूल और उत्तर के भेद वाले कर्म हैं । उनमें कर्म के मूलभेद आठ हैं और उत्तरभेद एक ही अट्ठावन हैं । इन मूल और उत्तर भेदों का आगे विस्तार से वर्णन किया जा रहा है ।

इस प्रकार यह बंधक-प्ररूपणा नामक दूसरा अधिकार पूर्ण होता है ।



परिशिष्ट (१)

बंधक-प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ

चउदसविहा वि जीवा विबंधगा तेसिमंतिमो भेओ ।
चोदसहा सव्वे वि हु किमाइसंताइपयनेया ॥१॥
किं जीवा ? उवसमाइएहि भावेहि संजुयं दव्वं ।
कस्स ? सरूवस्स प्हू केणंति ? न केणइ कया उ ॥२॥
कत्थ ? सरीरे लोए व हुंति केवचिर ? सव्व कालं तु ।
कई भावजुया जीवा ? दुग-तिग-चउ-पंचमीसेहि ॥३॥
सुरनेरइया तिसु तिसु वाउपणिदीतिरक्ख चउ चउसु ।
मणुया पंचसु सेसा तिसु तणुसु अविग्गहा सिद्धा ॥४॥
पुढवाई चउ चउहा साहारवणंपि संतयं सययं ।
पत्तेय पज्जपज्जा दुविहा सेसा उ उववन्ना ॥५॥
मिच्छा अविरयदेसा पमत्ता अपमत्ताया सजोगी य ।
सव्वद्धं इयरगुणा नाणा जीवेसु वि न होंति ॥६॥
इगदुगजोगाईणं ठवियमहो एगणेग इइ जुयलं ।
इगिजोगाउ दुदु गुणा गुणियविमिस्सा भवे भंगा ॥७॥
अहवा एक्कपईया दो भंगा इगिबहुत्तासन्ना जे ।
ते च्चिय पयवुड्डीए तिगुणा दुगसजुया भंगा ॥८॥
साहारणाण भेया चउरो अणंता असंखया सेसा ।
मिच्छाणता चउरो पलियासखस सेस संखेज्जा ॥९॥
पत्तेयपज्जवणकाइयाउ पयरं हरंति लोगस्स ।
अंगुल - असंखभागेण भाइयं भूदगतणू य ॥१०॥

आवलिवग्गो अन्तरावलीय गुणिओ हु बायरा तेऊ ।
 वाऊ य लोगसखं सेसतिगमसांखया लोगा ॥११॥
 पजत्तापजत्ता बि-ति-चउ असांनणो अवहरंति ।
 अंगुल - सखासंखप्पएसभइयं पुढो पयरं ॥१२॥
 सत्ती चउसु गईसु पढमाए असखसेढि नेरइया ।
 सेढिअसंखेज्जसो सेसासु जहोत्तरं तह य ॥१३॥
 संखेज्जजोयणाणं सूइपएसेहि भाइओ पयरो ।
 वंतरसुरेहि हीरइ एवं एकेक्कभेए णं ॥१४॥
 छप्पनदोसयंगुल सूइपएसिं भाइओ पयरो ।
 जोइसिएहि हीरइ सट्टाणे त्थीय संखगुणा ॥१५॥
 असखसेढिखपएसतुल्लया पढम दुइय कप्पेसु ।
 सेढि असखंसमा उवरिं तु जहोत्तरं तह य ॥१६॥
 सेढिएक्केक्कपएसरइय सूईणमंगुलप्पभियं ।
 घम्माए भवणसोहम्मयाणमाणं इमं होइ ॥१७॥
 छप्पन्नदोसयंगुल भूओ भूओ विगब्भ मूलतिंग ।
 गुणिया जहुत्तरत्था रासीओ कमेण सूइओ ॥१८॥
 अहवंगुलप्पएसा समूलगुणिया उ नेरइयसूई ।
 पढमदुइयापयाइं समूलगुणियाइं इयरान ॥१९॥
 अंगुलमूलासंखियभागप्पमिया उ होति सेढीओ ।
 उत्तरविउन्वियाणं तिरियाण य सन्नपज्जाणं ॥२०॥
 उक्कोसपए मणुया सेढी रूवाहिया अवहरंति ।
 तइयमूलाहएहि अंगुलमूलप्पएसेहि ॥२१॥
 सासायणाइचउरो होति अंसखा अणतया मिच्छा ।
 कोडिसहस्सपुहुत्तं पमत्तइयरे उ थोवयरा ॥२२॥
 एगाइ चउपण्णा समगं उवसामगा य उवसता ।
 अद्धं पडुच्च सेढीए होति सब्बेवि संखेज्जा ॥२३॥

खवगा खीणाजोगी एगाइ जाव होंति अट्ठसयं ।
 अद्धाए सयपुहुत्तं कोडिपुहुत्तं संजोगीओ ॥२४॥
 अपज्जत्ता दोन्नवि सुहुमा एगिदिया जए सव्वे ।
 सेसा य असखेज्जा बायरपवणा असखेसु ॥२५॥
 सासायणाइ सव्वे लोयस्स असंखयम्मि भागम्मि ।
 मिच्छा उ सव्वलोए होइ सजोगी वि समुग्घाए ॥२६॥
 वेयण - कसाय - मारण - वेउव्विय-तेउ-हार-केवलिया ।
 सग पण चउ तिल्लि कमा मणुसुरनेरइयतिरियाण । २७॥
 पंचेन्दियतिरियाणं देवाण व होंति पंच सन्नीणं ।
 वेउव्वियवाऊणं पढमा चउरो समुग्घाया ॥२८॥
 चउदसविहावि जीवा समुग्घाएणं फुसंति सव्वजगं ।
 रिउसेढीए व केई एव मिच्छा सजोगी या ॥२९॥
 मीसा अजया अड अड बारस सासायणा छ देसजई ।
 सग सेसा उ फुसंति रज्जू खीणा असखसं ॥३०॥
 सहसारतियदेवा नारयनेहेण जति तइय व ।
 निज्जति अचव्वयं जा अचव्वयदेवेण इयरसुरा ॥३१॥
 छट्ठाए नेरइओ सासणभावेण एइ तिरिमणुए ।
 लोगंतनिकुडेसु जतिऽन्ने सासणगुणत्था ॥३२॥
 उवसामगउवसंता सव्वट्ठे अप्पमत्तविरया य ।
 गच्छन्ति रिउगईए पु देसजया उ बारसमे ॥३३॥
 सत्तण्हमपज्जाणं अंतमुहुत्तं दुहावि सुहुमाणं ।
 सेसाणपि जहन्ता भवठिई होइ एमेव ॥३४॥
 बावीससहस्साइ बारस वासाइ अउणपन्नदिणा ।
 छम्मास पुव्वकोडी तेत्तीसयराइ उक्कोसा ॥३५॥
 होइ अणाइ अणंतो अणाइ संतो य साइसंतो य ।
 देसूणपोगलद्धं अंतमुहुत्तं चरिममिच्छो ॥३६॥

पोगलपरियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो ।
 एककेक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएणं ॥३७॥
 ससारंमि अडतो जाव य कालेण फुसिय सब्वाण ।
 ईगृ जीवु मुयइ बायरअन्नयरतणुट्टिओ सुहुमो ॥३८॥
 लोगस्स पएसेसु अणंतरपरपराविभत्तीहि ।
 खेत्तांमि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥३९॥
 उस्सप्पिणिसमएसु अणंतरपरंपराविभत्तीहि ।
 कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥४०॥
 अणुभागट्टाणेसुं अणंतरपरपराविभत्तीहि ।
 भावमि बायरो सो सुहुमो सब्बेसुणुक्कमसो ॥४१॥
 आवलियाणं छक्कं समयादारब्भ सासणो होइ ।
 मीसुवसम अतमुहू खाइयदिट्ठी अणंतद्धा ॥४२॥
 वेयग अविरयसम्मो तेत्तीसयराइं साइरेगाइं ।
 अतमुहुत्ताओ पुव्वकोडी देसो उ देसूणा ॥४३॥
 समयाओ अतमुहू पमत्त अपमत्तयं भयंति मुणी ।
 देसूण पुव्वकोडि अन्नोन्नं चिट्ठहि भयता ॥४४॥
 समयाओ अंतमुहू अपूव्वकरण उ जाव उवसतो ।
 खीणाजोगीणतो देसस्सव जोगिणो कालो ॥४५॥
 एगिदियाणणंता दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिई ।
 अयराण इगपणिदिमु नरत्तिरियाणं सगट्ट भवा ॥४६॥
 पुव्वकोडिपुहुत्तं पल्लतियं तिरिनराण कालेणं ।
 नाणाइगपज्जत्त मणूणपल्लसखस अंतमुहू ॥४७॥
 पुरिसत्तं सन्नित्तं सयपुहुत्तं तु होइ अयराणं ।
 थी पलियसयपुहुत्तं, नपुंसगत्तं अणंतद्धा ॥४८॥
 बायरपज्जेगिदिय विगलाण य वाससहस्स संखेज्जा ।
 अपज्जंतं सुहुमसाहारणाण पत्तं गमंतमुहू ॥४९॥

पत्तय बायरस्स उ परमा हरियस्स होइ कायठिई ।
 ओसप्पिणी असंखा साहारत्तं रिउगइयत्तं ॥५०॥
 मोहठिइ बायराणं सुहुमाण असंख्या भवे लोगा ।
 साहारणसु दोसद्धपुग्गला निव्विसेसाणं ॥५१॥
 सासणमीसाओ हवंति सन्तया पलियसंखइगकाला ।
 उवसामग उवसंता समयाओ अंतरमुहुत्तं ॥५२॥
 खवगा खीणाजोगी होंति अणिच्चावि अंतरमुहुत्तं ।
 नाणा जीवे तं चिय सत्तिहिं समएहिं अब्भाहियं ॥५३॥
 एगिदित्तं समयं तसत्तणं सम्मदेसचारित्तं ।
 आवलियासंखंसं अडसमयं चरित्तं सिद्धी य ॥५४॥
 उवसममेढी उवसंतया य मणुयत्तणुत्तरसुरत्तं ।
 पडिवज्जंते समया संखेया खवगसेढी य ॥५५॥
 बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य च्चलसीई ।
 छन्नउइ दुअट्टसयं एगाए जहुत्तरे समए ॥५६॥
 गब्भयतिरिमणुसुरनारयाण विरहो मुहुत्त बारसगं ।
 मुच्छिमनराण चउवीस विगल अमणाण अंतमुहू ॥५७॥
 तसबायरसाहारण असन्नि अपुमाण जो ठिईकालो ।
 सो इयराणं विरहो एवं हरियेयराणं च ॥५८॥
 आईसाणं अमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्तंतो ।
 आसहसारे अच्चुयणुत्तर दिण मास वास नव ॥५९॥
 थावरकालुक्कोसो सव्वट्ठे बीयओ न उववाओ ।
 दो अयरा विजयाइसु नरएसु वियाणुमाणेणं ॥६०॥
 पलियासंखो सासायणंतरं सेसगाण अंतमुहू ।
 मिच्छस्स बे छसट्ठी इयराणं पोग्गलद्धंतो ॥६१॥
 वासपुहुत्तं उवसामगाण विरहो छमास खवगाणं ।
 नाणा सुग्गजी सासाणमीसाणं पल्लसंखंसो ॥६२॥

सम्माई तिननि गुणा कमसो सगचोहृपन्नरदिणाणि ।
 छम्मास अजोगित्तं न कोवि पडिवज्जए सययं ॥६३॥
 सम्माइ चउसु तिय चउ उवसममुवसंतयाण चउ पंच ।
 चउ खीणअपुव्वाणं तिननि उ भावावसेसाणं ॥६४॥
 थोवा गढभय मणुया तत्तो इत्थीओ तिघणगुणियाओ ।
 बायर तेउक्काया तासिमसंखेज्ज पज्जत्ता ॥६५॥
 तत्तोणुत्तरदेवा तत्तो संखेज्ज जाणओ कप्पो ।
 तत्तो असंखगुणिया सत्ताम छट्ठी सहस्सारो ॥६६॥
 सुक्कमि पंचमाए लंतय चोत्थीए बंभ तच्चाए ।
 माहिंद सणकुमारे दोच्चाए मुच्छिमा मणुया ॥६७॥
 ईसाणे सव्वत्थवि बत्तीसगुणाओ होंति देवीओ ।
 संखेज्जा सोहम्मे तओ असखा भवणवासी ॥६८॥
 रयणप्पभिया खहयरपणिंदि संखेज्ज तत्तिरिक्खीओ ।
 सव्वत्थ तओ थलयर जलयर वण जोइसा चेवं ॥६९॥
 तत्तो नपुंसखहयर सखेज्जा थलयर जलयर नपुंसा ।
 चउरिंदि तओ पणबितिइंदियपज्जत्त किंचि (च) हिया ॥७०॥
 असंखा पण किंचि (च) हिय सेस कमसो अपज्ज उभयओ ।
 पंचेदिय विसेसहिया चउतिवेइंदिया तत्तो ॥७१॥
 पज्जत्तबायरपत्तोयतरू असंखेज्ज इति निगोयाओ ।
 पुढवी आऊ वाउ बायर अपज्जत्ततेउ तओ ॥७२॥
 बादरतरूनिगोया पुढवीजलवाउतेउ तो सुहुमा ।
 तत्तो विसेसअहिया पुढवीजलपवणकाया उ ॥७३॥
 संखेज्ज सुहुम पज्जत्त तेउ किंचि (च) हिय भूजलसमीरा ।
 तत्तो असंखगुणिया सुहुमनिगोया अपज्जत्ता ॥७४॥
 संखेज्जगुणा तत्तो पज्जत्ताणंतया तओऽभव्वा ।
 पडिवडियसम्मसिद्धा वण बायर जीव पज्जत्ता ॥७५॥

किंचि (च) हिया सामन्ना एए उ असंख वण अपज्जत्ता ।
 एए सामन्नेणं विसेसअहिया अपज्जत्ता ॥७६॥
 सुहुमा वणा असंखा विसेसअहिया इमे उ सामन्ना ।
 सुहुमवणा संखेज्जा पज्जत्ता सव्व किंचि (च) हिया ॥७७॥
 पज्जत्तापज्जत्ता सुहुमा किंचि (च) हिया भव्वसिद्धीया ।
 तत्तो बायर सुहुमा निगोय वणस्सइजिया तत्तो ॥७८॥
 एगिदिया तिरिक्खा चउगइमिच्छा य अविरइजुया य ।
 सकसाया छउमत्था सजोगसंसारि सव्वेवि ॥७९॥
 उवसंतखवगजोगी अपमत्तपमत्ता देससासाणा ।
 मीसाविरया चउ चउ जहुत्तरं संखसखगुणा ॥८०॥
 उक्कोसपए संता मिच्छा तिसु गईसु होंतसखगुणा ।
 तिरिए संगतगुणिया सन्निसु मणुएसु संखगुणा ॥८१॥
 एगिदियसुहुमियरा सन्नियर पणिदिया सवित्तिचऊ ।
 पज्जत्तापज्जत्ता भेएणं चोद्दसग्गामा ॥८२॥
 मिच्छा सासणमिस्सा अविरय देसा पमत्त अपमत्ता ।
 अपुव्व बायर सुहुमोवसंतखीणा सजोगियरा ॥८३॥
 तेरस विबंधगा ते अट्ठविहं बंधियव्वयं कम्मं ।
 मूलुत्तरभेयं ते साहिमो ते निसामेह ॥८४॥



लोक की घनाकार समचतुरस्र-समीकरणविधि

गणितशास्त्र में कैसे भी क्षेत्र अथवा लंबे-चौड़े-ऊँचे पदार्थ का समचतुरस्र-समीकरण करने के लिए घनविधि का उपयोग किया जाता है। तदनुसार यहाँ लोक के घनाकार समचतुरस्र-समीकरण करने की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं।

जैनसिद्धान्त में लोक का संस्थान कटि पर हाथों को रखे, पैरों को फैला कर खड़े मनुष्याकार के समान बताया है। जिसे नाभिस्थान रूप मध्य भाग से नीचे के भाग को अधोलोक, कटिस्थानीय भाग को मध्यलोक और उससे ऊपर के भाग को ऊर्ध्वलोक इस प्रकार तीन भागों में विभाजित किया है।

इसकी ऊँचाई चौदह राजू है किन्तु विभिन्न स्थानों पर चौड़ाई में अन्तर है। जैसे नीचे आधार भूमिभाग में पूर्व पश्चिम सात राजू चौड़ा है। फिर ऊपर उत्तरोत्तर क्रमशः हीन-हीन होते मध्यलोक रूप स्थान में यह चौड़ाई मात्र एक राजू प्रमाण रह जाती है। तत्पश्चात् पुनः वृद्धि होते-होते शेष रहे सात राजू के मध्य में अर्थात् साढ़े तीन राजू ऊपर, यानि कुल साढ़े दस राजू ऊँचाई पर यह चौड़ाई पांच राजू और इसके बाद पुनः चौड़ाई हीन-हीन होते-होते सर्वोच्च भाग में मात्र एक राजू प्रमाण है। मोटाई सात राजू प्रमाण है।

इस प्रकार के लोकसंस्थान के समीकरण करने की विधि यह है—

अधोलोक रूप जो सात राजू प्रमाण ऊँचाई वाला भाग है, जिसका नीचे विस्तार सात राजू एवं सात राजू की ऊँचाई पर मध्यलोक रूप स्थान पर एक राजू प्रमाण है, उसकी ऊँचाई सात राजू रखकर चौड़ाई के ठीक बीच से दो भाग किये जायें। तब एक राजू की चौड़ाई के $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{2}$ राजू और सात राजू की चौड़ाई के $3\frac{1}{2}$, $3\frac{1}{2}$ राजू के दो विषम चतुष्कोण वाले खंड हो जायेंगे, किन्तु इन खंडों की ऊँचाई सात राजू रहेगी। फिर इन दोनों खंडों में से एक को उलटा करके

बराबर सटा कर रखे जाने पर इनके नीचे और ऊपर के भाग की चौड़ाई चार राजू और ऊँचाई सर्वत्र सात राजू प्रमाण होगी ।

अब शेष रहे ऊर्ध्वलोक रूप खंड को लीजिये । जो नीचे एक राजू, साढ़े दस राजू की ऊँचाई पर पांच राजू तथा चौदह राजू की ऊँचाई पर एक राजू चौड़ा है । इसमें से एक राजू प्रमाण चौड़े और सात राजू प्रमाण ऊँचे भाग को अलग करके ऊपर से नीचे तक दो समानान्तर रेखायें खींचे जाने पर शेष भाग चार त्रिकोण रूप होगा । ये प्रत्येक त्रिकोण ऊँचाई में साढ़े तीन राजू और आधार रूप चौड़ाई में दो राजू प्रमाण होंगे । फिर इन चारों भागों में एक, दो, तीन और चार इस प्रकार से क्रम संख्या डालकर एक को उलटा करके दो के साथ तथा तीन को उलटा करके चार के साथ आपस में मिला दिया जाये । जिससे इनके दो खंड हो जायेंगे और प्रत्येक की ऊँचाई साढ़े तीन राजू और चौड़ाई दो राजू होगी । फिर इन दोनों खंडों को भी ऊपर नीचे इस क्रम से रखा जाये कि ऊँचा सात राजू और चौड़ा दो राजू जितना एक खंड बन जाये ।

ऐसा करने पर लोक के कुल क्षेत्र के यह तीन खंड हुए—

१ अधोलोक वाला सात राजू ऊँचा और चार राजू चौड़ा पहला भाग ।

२ ऊर्ध्वलोक का सात राजू ऊँचा और एक राजू चौड़ा दूसरा भाग ।

३ चार त्रिकोणों के संयोग से निर्मित सात राजू ऊँचा और दो राजू चौड़ा तीसरा भाग ।

इन तीनों खंडों को चौड़ाई में परस्पर जोड़ने पर लोक $(४ + १ + २ = ७)$ सात राजू चौड़ा होगा किन्तु ऊँचे सात राजू होने से ऊँचाई सात राजू होगी । जिससे लोक सात राजू लंबा चौड़ा समचतुष्कोण रूप हो जाता है और मोटाई सात राजू होने से घनाकार लोक की ऊँचाई-चौड़ाई-मोटाई तीनों सात-सात राजू होती है । इसी को लोक का घनाकार समीकरण कहते हैं ।

यद्यपि घन समचतुरस्र रूप होता है और लोक वृत्त (गोल) है । अतः इस घन का वृत्त करने के लिये उसे १६ से गुणा करके २२ से भाग देना चाहिए । घनाकार लोक की तीनों सात रूप संख्या का परस्पर गुणा करने से $(७ \times ७ \times ७ = ३४३)$ तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण क्षेत्र होता है । □

दिगम्बरसाहित्य में निर्देशित स्थावर त्रस जीवों की संख्या का प्रमाण^१

संसारी जीवों के दो प्रकार हैं—त्रस और स्थावर । द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस और जिनके सिर्फ स्पर्शनेन्द्रिय होती है, ऐसे वे जीव स्थावर कहलाते हैं । प्रकृत में पहले स्थावर जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाते हैं ।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पांच प्रकार के जीव स्थावर हैं । पृथक्-पृथक् जिनकी संख्या इस प्रकार है—

शलाकात्रय निष्ठापन की विधि से लोक का साढ़े तीन बार गुणा करने से तेजस्कायिक जीवों का प्रमाण निकलता है तथा पृथ्वी, जल, वायुकायिक जीवों का उत्तरोत्तर तेजस्कायिक जीवों की अपेक्षा अधिक-अधिक प्रमाण है । इस अधिकता के प्रतिभागहार का प्रमाण असंख्यात लोक है ।

उक्त संक्षिप्त कथन का आशय यह है—

लोक प्रमाण (जगच्छ्रेणी के घन का जितना प्रमाण है, उस के बराबर) शलाका, विरलन, देय इस प्रकार तीन राशि स्थापन करना । विरलन राशि का विरलन कर (एक-एक बिखेर कर) प्रत्येक एक के ऊपर उस लोक प्रमाण देय राशि का स्थापन करना और उन देय राशियों का परस्पर गुणा करना और शलाका राशि में से एक कम करना । इनसे उत्पन्न महाराशि प्रमाण फिर विरलन और देय ये दो राशि स्थापन करना तथा विरलन राशि का विरलन कर प्रत्येक

१. गोम्पटसार जीवकांड गा. २०४-२११ तथा गा. १७८-१७९ ।

एक के ऊपर देय राशि रखकर पूर्व की तरह परस्पर गुणा करना और शलाका राशि में से एक और कम करना । इसी प्रकार से एक-एक कम करते-करते जब समस्त शलाका राशि समाप्त हो जाए तब उस उत्पन्न महाराशि प्रमाण फिर विरलन, देय, शलाका ये तीन राशि स्थापन करना और विरलन राशि का विरलन कर और उसके प्रत्येक एक के ऊपर देय राशि को स्थापित कर देय राशि का उक्त रीति से गुणा करते-करते तथा पूर्वोक्त रीति से ही शलाका राशि में से एक-एक कम करते-करते जब दूसरी बार भी शलाका राशि समाप्त हो जाए तब उत्पन्न महाराशि प्रमाण फिर तीसरी बार उक्त तीन राशि स्थापन करना और उक्त विधान के अनुसार ही विरलन राशि का विरलन कर और देय राशि का परस्पर गुणा तथा शलाका राशि में से एक-एक कम करना । इस प्रकार शलाकात्रय निष्ठापन कर चौथी बार की स्थापित महाशलाका राशि में से पहली, दूसरी, तीसरी शलाका राशि का प्रमाण घटाने पर जो शेष है, उतनी बार उक्त क्रम से ही विरलन राशि का विरलन कर और देय राशि का परस्पर गुणा तथा शेष महाशलाका राशि में से एक-एक कम करना । इस पद्धति से साढ़े तीन बार लोक का गुणा करने पर अन्त में जो महाराशि उत्पन्न हो, उतना ही तेजस्कायिक जीवों का प्रमाण है ।

इस तेजस्कायिक जीवराशि में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध आये, उस एक भाग को तेजस्कायिक जीवराशि में मिलाने पर पृथ्वीकायिक जीवों का प्रमाण निकलता है और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रमाण में असंख्यात लोक का भाग देने पर जो लब्ध आये उस भाग को पृथ्वीकायिक जीवों के प्रमाण में मिलाने पर जलकाय के जीवों का प्रमाण होता है । जलकाय के जीवों के प्रमाण में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध आये, उस एक भाग को जलकाय की जीवराशि में मिलाने पर वायुकायिक जीवों का प्रमाण निकलता है ।

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—प्रत्येक और साधारण । इनमें से अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं और इससे भी असंख्यात लोक गुणा प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण है तथा सम्पूर्ण संसारी जीवराशि में से त्रस, पृथिव्यादि चतुष्क (पृथ्वी, अप्,

तेज, वायु), प्रत्येक वनस्पतिकाय का प्रमाण घटाने से जो शेष रहे उतना ही साधारण जीवों का प्रमाण है ।

अपनी-अपनी राशि का असंख्यातवां भाग बादर जीवों का और शेष सूक्ष्म जीवों का प्रमाण है । अर्थात् पृथ्वीकायिक आदि जीवों की अपनी-अपनी राशि में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध आये वह एक भाग बादर और शेष बहुभाग सूक्ष्म जीवों का प्रमाण है ।

सूक्ष्म जीवों में अपनी-अपनी राशि के संख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण अपर्याप्तक और बहुभाग प्रमाण पर्याप्तक हैं ।

पत्य के असंख्यातवें भाग से भक्त प्रतरांगुल का जगत्प्रतर में भाग देने से जो लब्ध आये, उतना बादर पर्याप्त जलकायिक जीवों का प्रमाण है । इसमें आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो लब्ध रहे उतना बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों का प्रमाण है । इसमें भी आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो लब्ध रहे उतना सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवराशि का प्रमाण होता है तथा पूर्व की तरह उसमें भी आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो लब्ध रहे उतना अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशि का प्रमाण है ।

घनावलिका के असंख्यातवें भागों में से एक भाग प्रमाण पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों का प्रमाण है और लोक के संख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों का प्रमाण है । अपनी-अपनी सम्पूर्ण राशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे, वही अपर्याप्तकों का प्रमाण है ।

साधारण बादर वनस्पतिकायिक जीवों का जो प्रमाण बताया है, उसके असंख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण पर्याप्त और बहुभाग प्रमाण अपर्याप्त हैं ।

इस प्रकार से दिग्म्बर साहित्य में स्थावर जीवों की संख्या के प्रमाण का निरूपण किया है । स्थावर जीवों के सिवाय शेष जीव त्रस हैं । उनकी संख्या का प्रमाण इस प्रकार बताया है—

आवली के असंख्यातवें भाग से भक्त प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने

से जो लब्ध आये उतना ही सामान्य त्रसराशि का प्रमाण है और संख्यातर्वे भाग से भक्त प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने से जो लब्ध आये उतना उतना पर्याप्त त्रस जीवों का प्रमाण है तथा सामान्य त्रसराशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर शेष अपर्याप्त त्रसों का प्रमाण होता है ।

सामान्य से तो त्रस जीवों की संख्या का प्रमाण पूर्वोक्त प्रकार से है, परन्तु पूर्व-पूर्व द्वीन्द्रियादिक की अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिक का प्रमाण क्रम-क्रम से हीन-हीन है । जिसका आशय यह हुआ कि त्रसराशि में आवली के असंख्यातर्वे भाग का भाग देकर लब्ध बहुभाग के समान चार भाग करना और एक-एक भाग को द्वीन्द्रियादि चारों में विभक्त कर शेष एक भाग में फिर से आवली के असंख्यातर्वे भाग का भाग दें और लब्ध बहुभाग को बहुत संख्या वाले द्वीन्द्रिय जीवों को दें । शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातर्वे भाग का भाग देकर एक भाग शेष रख बहुभाग त्रीन्द्रिय जीवों को दें । पुनः शेष एक भाग में आवली के असंख्यातर्वे भाग का भाग देकर बहुभाग चतुरिन्द्रिय जीवों को और शेष रहा एक भाग पंचेन्द्रिय जीवों को दें । इनका जो जोड़ हो उतना-उतना द्वीन्द्रिय आदि जीवों का पृथक्-पृथक् संख्या प्रमाण जानना चाहिये ।



नारक एवं चतुर्विध देव संख्यानिरूपक गोम्मटसार जीवकांडगत पाठ

नरकगति

सामण्णा णेरइया, घणअंगुलविदियमूलगुणसेढी ।
विदियादि वारदसअड, छत्तिदुणिजपदहिदा सेढी ॥१५३॥
हेट्टिमछप्पुढवीणं, रासिविहीणो दु सव्वरासी दु ।
पढमावणिम्हि रासी णेरइयाणं तु णिद्धिट्ठो ॥१५४॥

देवगति

तिण्णिसयजोययाणं, वेसदछप्पणअंगुलाणं च ।
कदिहदपदरं वेत्तर, जोइसियाणं च परिमाणं ॥१६०॥
घणअंगुलपढमपदं, तदियपदं सेढिसंगुणं कमसो ।
भवणे सोहम्मदुगे, देवाणं होदि परिमाणं ॥१६१॥
तत्तो एगारणदसगपणचउणियमूलभाजिदा सेढी ।
पल्लासंखेज्जदिमा पत्तेयं आणदादिसुरा ॥१६२॥
तिगुणा सत्तगुणा वा, सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो ।
सामण्णदेवरासी जोइसियादो विसेसाहिया ॥१६३॥

दिशापेक्षा नारकों का अल्पबहुत्व

१. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा नेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

२. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा रयणप्पभापुढविनेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

३. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सक्करप्पभापुढविनेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

४. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वालुयप्पभापुढविनेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

५. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पंक्कप्पभापुढविनेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

६. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा धूमप्पभापुढविनेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

७. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तमप्पभापुढविनेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

८. दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा अहेसत्तमापुढविनेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

९. दाहिणिल्लेहिंतो अहेसत्तमापुढविनेरइएहिंतो छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

१०. दाहिणिल्लेहिंतो तमापुढविणेरइएहिंतो पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

११. दाहिणिल्लेहिंतो धूमप्पभापुढविनेरइएहिंतो चउत्थीए पंक्कप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

१२. दाहिल्लेहितो पंकप्पभापुढविनेरइएहितो तइयाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

१३. दाहिल्लेहितो वालुयप्पभापुढविनेरइएहितो दुइयाए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं असंखिज्जगुणा, दाहिणेणं असंखिज्जगुणा ।

१४. दाहिल्लेहितो सक्करप्पभापुढविनेरइएहितो इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिम-पच्चत्थिम-उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

□

—प्रज्ञापना सूत्र
(बहुदक्तव्यता पद)

प्रज्ञापनासूत्रगत महादंडक का पाठ

अहं भंते ! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि—

१. सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतिया मणुस्सा ।
२. मणुस्सीओ संखेज्जगुणाओ ।
३. बादरतेउक्काइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
४. अणुत्तरोववाइया देवा असंखेज्जगुणा ।
५. उवरिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा ।
६. मज्झिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा ।
७. हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा ।
८. अच्चुते कप्पे देवा संखेज्जगुणा ।
९. आरणे कप्पे देवा संखेज्जगुणा ।
१०. पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा ।
११. आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा ।
१२. अधिसत्तमाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ।
१३. छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ।
१४. सहस्सारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा ।
१५. महासुवके कप्पे देवा असंखेज्जगुणा ।
१६. पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ।
१७. लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा ।
१८. चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ।
१९. बंभलोए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा ।
२०. तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ।
२१. माहिंदकप्पे देवा असंखेज्जगुणा ।

२२. सणंकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा ।
२३. दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ।
२४. सम्मुच्छिममणुस्सा असंखेज्जगुणा ।
२५. ईसाणे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा ।
२६. ईसाणे कप्पे देवीओ संखेज्जगुणाओ ।
२७. सोहम्मे कप्पे देवा संखेज्जगुणा ।
२८. सोहम्मे कप्पे देवीओ संखेज्जगुणाओ ।
२९. भवणवासी देवा असंखेज्जगुणा ।
३०. भवणवासिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।
३१. इमीसे रतणप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ।
३२. खहयरपंचेदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा ।
३३. खहयरपंचेदियतिरिक्खजोणणीओ संखेज्जगुणाओ ।
३४. थलयरपंचेदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा ।
३५. थलयरपंचेदियतिरिक्खजोणणीओ संखेज्जगुणाओ ।
३६. जलयरपंचेदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा ।
३७. जलयरपंचेदियतिरिक्खजोणणीओ संखेज्जगुणा ।
३८. वाणमंतरा देवा संखेज्जगुणा ।
३९. वाणमंतरीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।
४०. जोइसिया देवा संखेज्जगुणा ।
४१. जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।
४२. खहयरपंचेदियतिरिक्खजोणिया णपुंसया संखेज्जगुणा ।
४३. थलयरपंचेदियतिरिक्खजोणिया णपुंसया संखेज्जगुणा ।
४४. जलयरपंचेदियतिरिक्खजोणिया णपुंसया संखेज्जगुणा ।
४५. चउरिदिया पज्जत्तया संखेज्जगुणा ।
४६. पंचेदिया पज्जत्तया विसेसाहिया ।
४७. वेइंदिया पज्जत्तया विसेसाहिया ।
४८. तेइंदिया पज्जत्तया विसेसाहिया ।
४९. पंचिदिया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
५०. चउरिदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया ।

५१. तेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया ।
५२. बेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया ।
५३. पत्तेयसरीरबादरवणप्फइकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
५४. बादरणिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
५५. बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
५६. बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
५७. बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
५८. बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
५९. पत्तेयसरीरबादरवणप्फइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
६०. बादरणिगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
६१. बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
६२. बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ।
६३. बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
६४. सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
६५. सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ।
६६. सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ।
६७. सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ।
६८. सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।
६९. सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया ।
७०. सुहुमआउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया ।
७१. सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया ।
७२. सुहुमणिगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
७३. सुहुमणिगोदा पज्जत्तया संखेज्जगुणा ।
७४. अभवसिद्धिया अणंतगुणा ।
७५. परिवडितसम्मत्ता अणंतगुणा ।
७६. सिद्धा अणंतगुणा ।
७७. बादरवणस्सतिकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा ।
७८. बादरपज्जत्तया विसेसाहिया ।

७९. बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
८०. बादरअपज्जगा विसेसाहिया ।
८१. बादरा विसेसाहिया ।
८२. सुहुमवणस्सतिकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ।
८३. सुहुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया ।
८४. सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्जगुणा ।
८५. सुहुमपज्जत्तया विसेसाहिया ।
८६. सुहुमा विसेसाहिया ।
८७. भवसिद्धिया विसेसाहिया ।
८८. निगोदजीवा विसेसाहिया ।
८९. वणप्फतिजीवा विसेसाहिया ।
९०. एगिदिया विसेसाहिया ।
९१. तिरिक्खजोगिया विसेसाहिया ।
९२. भिच्छदिट्ठी विसेसाहिया ।
९३. अविरता विसेसाहिया ।
९४. सकसाई विसेसाहिया ।
९५. छउमत्या विसेसाहिया ।
९६. सजोगी विसेसाहिया ।
९७. संसारत्या विसेसाहिया ।
९८. सब्वजीवा विसेसाहिया ।



६

उत्तरवैक्रियशरीरी संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच-संख्या परिमाण- ज्ञापक प्रज्ञापनासूत्रगत पाठ

पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणियाणं केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा, कालओ असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरन्ति । खेत्तओ पयरस्स असंखेज्जइभागे असंखेज्जाओ सेढीओ, तासिणं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जइ भागो ।

—प्रज्ञापनासूत्र शरीरपद

७

मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्याविषयक अनुयोगद्वारचूर्ण का पाठ

‘उक्कोसपए जे मणुस्सा हवन्ति, ते एक्कमि मणुयरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ, तीसे य सेढीए कालखेत्तं हिं अवहारो मग्गिज्जइ । कालओ ताव असंखेज्जाहिं उसप्पीणीहिं ओसप्पीणीहिं, खेत्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं, किं भणियं होइ ? तीसे सेढीए अंगुलायए खेत्ते जो य पएसरासी, तस्स जं पढमं वग्गमूलपएसरासिमाणं, तं तइयवग्गमूलपएसरासिणा पडुप्पाइज्जइ, पडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी हवइ, एवईएहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी जाव निट्ठाइ, ताव मणुस्सावि अवहीरमाणा निट्ठन्ति । आह—कहमेगसेढी एद्दहमेत्ते हिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जा उसप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरइ ? आयरिओ आह—खेत्तस्स सुहुमत्तणओ । सुत्तेविमं भणियं—

“सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं ।
अंगुलसेढीमेत्ते उसप्पिणीओ असंखेज्जा ॥”

—उत्कृष्ट पद में जो मनुष्य हैं, उनमें एक (मनुष्य) रूप का प्रक्षेप करने पर उन मनुष्यों के द्वारा संपूर्ण सूचिश्रेणि का अपहार होता है। उस सूचिश्रेणि का काल और क्षेत्र द्वारा अपहार का विचार इस प्रकार है—

काल से असंख्याती उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के समय प्रमाण है और क्षेत्रा-पेक्षा सूचिश्रेणि के अंगुल प्रमाण क्षेत्र में वर्तमान आकाशप्रदेशों के प्रथम वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणा करना चाहिये। जिसका अर्थ यह हुआ—

उस श्रेणि के अंगुल प्रमाण क्षेत्रगत प्रदेशराशि के प्रथम वर्गमूल में प्राप्त प्रदेशराशि को तृतीय वर्गमूलगत प्रदेशराशि से गुणाकार करने पर जो प्रदेशराशि हो, ऐसे-ऐसे एक-एक खंड का और दूसरी ओर एक-एक मनुष्य का अपहार किया जाये, यानि ऐसे-ऐसे सूचिश्रेणि के एक-एक खंड को एक-एक मनुष्य ग्रहण करे तब यदि एक मनुष्य अधिक हो तो संपूर्ण श्रेणि को ग्रहण कर सकता है। सारांश यह हुआ कि कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के जितने समय हैं, उतने उत्कृष्टपद में मनुष्य हैं और क्षेत्रतः अंगुल प्रमाण क्षेत्र के पहले मूल को तीसरे मूल के साथ गुणा करने पर प्राप्त आकाशप्रदेश प्रमाण सूचिश्रेणि के जितने खंड हों, उनमें से एक न्यून करने पर उत्कृष्ट से मनुष्यों की संख्या का प्रमाण होता है।

प्रश्न—ऐसे-ऐसे खंडों द्वारा एक श्रेणि का अपहार करते असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल कैसे होता है ?

उत्तर—क्षेत्र के अत्यन्त सूक्ष्म होने से उतना काल होता है। जैसा कि कहा है—

सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं ।
अंगुलसेढीमेत्ते उसप्पिणीओ असंखेज्जा ॥

अर्थात् काल सूक्ष्म है, लेकिन उससे भी सूक्ष्मतर आकाशप्रदेश रूप क्षेत्र है। जिसके एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र में इतने अधिक आकाशप्रदेश हैं कि उनमें से प्रतिसमय एक-एक आकाशप्रदेश लिया जाये तो असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल बीत जाता है। इसीलिये उत्कृष्ट पद में मनुष्यों का प्रमाण काल से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के समय प्रमाण कहा है और क्षेत्रापेक्षा सूचिश्रेणि के एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र के पहले वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणा करने पर प्राप्त प्रदेश प्रमाण वाले सूचिश्रेणि के जितने खंड, उनमें से एक कम करने पर उतने उत्कृष्ट पद में मनुष्य बतलाये हैं।



दिगम्बरसाहित्यगत पुद्गलपरावर्तनों की व्याख्या

कर्मविपाक के वश यह संसारी जीव संसरण-परिवर्तन कर रहा है। संसारस्थ जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे नए शरीर को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् उस शरीर को भी छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार का संसरण जीव तब तक करता रहता है, जब तक संसरण के कारणभूत कर्मों का संयोग जीव/आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। पहले शरीर को छोड़कर दूसरे नए शरीर को ग्रहण करते रहने के दीर्घ समय का बोध कराने के लिए जैनसिद्धान्त में पुद्गलपरावर्तन शब्द का प्रयोग किया है।

जैन वाङ्मय में प्रत्येक विषय की चर्चा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार अपेक्षाओं से होती है। इन अपेक्षाओं के बिना उस विषय की चर्चा पूर्ण नहीं समझी जाती। अतएव श्वेताम्बर साहित्य में परावर्तन का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से किया है।

द्रव्य से यहाँ पुद्गल द्रव्य का ग्रहण जानना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक परावर्तन के साथ पुद्गल शब्द संलग्न है और उसके ही द्रव्य पुद्गलपरावर्तन आदि चार भेद बताए गए हैं। जीव के परावर्तन, संसार-परिभ्रमण का कारण एक तरह से पुद्गल द्रव्य ही है, संसारस्थ जीव उसके बिना रह नहीं सकता। उस पुद्गल का सबसे छोटा अणु-परमाणु ही यहाँ द्रव्य पद से ग्रहण करना चाहिए। उस परमाणु के अवस्थान के स्थान को क्षेत्र और पुद्गल का एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश से उसी के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में जितने समय में पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। भाव से अनुभागबंध के कारणभूत जीव के काषायिक भाव जानना चाहिए। क्योंकि ये काषायिक परिणाम ही जीव को संसार में परिभ्रमण कराने के कारण हैं। अतएव इन्हीं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परावर्तनों को लेकर श्वेताम्बर साहित्य में चार परावर्तनों की कल्पना की गई है।

इनको काल-विभाग का बोधक मानने का कारण यह है कि संसारी जीव अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अब तक एक भी परमाणु ऐसा शेष नहीं है कि जिसे इसने न भोगा हो, आकाश का एक भी प्रदेश और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल का ऐसा एक भी समय बाकी नहीं रहा एवं ऐसा एक भी कषायस्थान नहीं, जिसमें वह मरा न हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानों को यह जीव अनेक बार अपना चुका है। उसी को दृष्टि में रखकर इन द्रव्य पुद्गलपरावर्तन आदि नामों को काल-बोधक कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य में भी संसारभ्रमण के इस अतीव सुदीर्घकाल का बोध कराने के लिए पुद्गलपरावर्तनों का वर्णन किया है। वहाँ ये परावर्तन पंचपरिवर्तन के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर साहित्य में बताए गए चारों परिवर्तनों के साथ एक भवपरिवर्तन का नाम विशेष है।

इनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

द्रव्यपरिवर्तन के दो भेद हैं—नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन।

नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन—किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण किया, अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण, गंध आदि के द्वारा जिस तीव्र, मंद और मध्यम भाव से ग्रहण किये थे, उस रूप में अवस्थित रह कर द्वितीयादि समयों में निर्जीण हो गए, तत्पश्चात् अग्रहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में ग्रहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से नोकर्मभाव को प्राप्त होते हैं, तब यह सब मिलकर एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहलाता है।

कर्मद्रव्यपरिवर्तन—एक जीव ने आठ प्रकार के कर्म रूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, वे समयाधिक एक आदली बाल के बाद द्वितीयादि समयों में झड़ गए। पश्चात् जो क्रम नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन में बताया है, उसी

क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उस जीव को जब कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, तब यह सब मिलकर एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है ।

नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन मिल कर द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गलपरिवर्तन कहलाता है और दोनों में से एक को अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं ।

क्षेत्रपरिवर्तन—सबसे जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मर गया । इस प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग के क्षेत्र में जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहना को लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया । इसके पश्चात् एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को अपना जन्म-क्षेत्र बना लेता है तो उतने काल को एक क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं ।

कालपरिवर्तन—कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त होने पर मर गया । पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मर गया । पुनः वही तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और मर गया । इस प्रकार से उसने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी । इस प्रकार जितने समय में निरन्तरता से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों को अपने जन्म और मरण से स्पृष्ट कर लेता है, उतने समय का नाम कालपरिवर्तन है ।

भवपरिवर्तन—नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है । एक जीव उस आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ और घूम-फिर कर पुनः उसी आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ, इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं, उतनी बार वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया । पुनः आयु में एक-एक समय बढ़ा कर नरक की तेतीस सागर आयु समाप्त की । तदनन्तर नरक से निकल कर अन्तर्मुहूर्त आयु के साथ तिर्यंचगति में उत्पन्न हुआ और पूर्वोक्त क्रम से अन्तर्मुहूर्त में जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्त आयु लेकर उत्पन्न हुआ । इसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यंचगति की उत्कृष्ट आयु तीन

पत्य पूरी की। तिर्यचगति की ही तरह मनुष्यगति में भी अन्तर्मुहूर्त से लेकर तीन पत्य की आयु समाप्त की, फिर नरकगति की तरह देवगति का काल पूरा किया, किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि यहाँ इकतीस सागर आयु पूरी करने पर ही भवपरिवर्तन पूरा हो जाता है। क्यों कि ३१ सागर से अधिक आयु वाले देव नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं और वे एक या दो मनुष्य भव धारण करके मोक्ष जाते हैं।

इस प्रकार चारों गति की आयु को भोगने में जितना समय लगता है उसे भवपरिवर्तन कहते हैं।

भावपरिवर्तन—इस जीव ने मिथ्यात्व के वश प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के कारणभूत जितने प्रकार के परिणाम या भाव हैं, उन सबका अनुभव करते हुए भावपरिवर्तन रूप संसार में अनेक बार भ्रमण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कर्मों के एक-एक स्थितिबंध के कारण असंख्यात लोक प्रमाण कषाय-ध्यवसायस्थान हैं और एक-एक कषायस्थान के कारण असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान हैं। किसी पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव ने ज्ञानावरणकर्म का अन्तःकोटि-कोटि सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबंध किया। उसके उस समय सबसे जघन्य कषायस्थान, सबसे जघन्य अनुभागस्थान तथा सबसे जघन्य योगस्थान था। दूसरे समय में वही स्थितिबंध, वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा किन्तु योगस्थान दूसरे नम्बर का हो गया, इस प्रकार उसी स्थितिबंध, कषायस्थान और अनुभागस्थान के साथ श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण समस्त योगस्थानों को पूर्ण किया। योगस्थानों की समाप्ति के बाद स्थितिबंध और कषायस्थान तो वही रहा किन्तु अनुभागस्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूर्ववत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये। इस प्रकार अनुभागाध्यवसायस्थानों के समाप्त होने पर उसी स्थितिबंध के साथ दूसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पहले की तरह समाप्त किये। पुनः तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये, इस प्रकार समस्त कषायस्थानों के समाप्त हो जाने पर इस जीव ने एक समय अधिक अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण

स्थितिबंध किया, उसके भी कषायस्थान, अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते ज्ञानावरणकर्म की तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण की।

इस तरह जब वह जीव सभी मूल और उत्तर कर्म-प्रकृतियों की स्थिति पूरी कर लेता है, तब उतने काल को भावपरिवर्तन कहते हैं।

इन सभी परिवर्तनों में क्रम का ध्यान रखना चाहिए, अक्रम से होने वाली क्रिया की गणना नहीं की जाती है।

पंचपरिवर्तनों में अल्पबहुत्व—अतीतकाल में एक जीव के सबसे कम भावपरिवर्तन के बार हैं, भावपरिवर्तनों के बारों से भवपरिवर्तन के बार अनन्तगुणे हैं, कालपरिवर्तन के बार भवपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं, क्षेत्रपरिवर्तन के बार कालपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं और पुद्गलपरिवर्तन के बार क्षेत्रपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं।

पुद्गलपरिवर्तन का काल सबसे कम है। क्षेत्रपरिवर्तन का काल पुद्गलपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है, कालपरिवर्तन का काल क्षेत्रपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है, भवपरिवर्तन का काल कालपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है और भावपरिवर्तन का काल भवपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है।

इस प्रकार से दिग्म्बर साहित्य में पुद्गलपरिवर्तनों का वर्णन किया गया है। □

प्रज्ञापनासूत्रगत कायस्थितिसम्बन्धी पाठांश

(प्रकरणगत वर्णन के अनुसार पाठांशों का क्रम है)

एगिदिएणं भन्ते ! एगिदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणिओ कालओ । खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा । तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागो ।

भदन्त ! एकेन्द्रिय जीव का एकेन्द्रिय रूप में कितना काल होता है ?

गौतम ! कालापेक्षा जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण अनन्त काल है । क्षेत्र से अनन्त लोक प्रमाण काल है, असंख्यात पुद्गलपरावर्तन है और वे परावर्तन आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे हुए असंख्यात समय जितने होते हैं ।

पुढविकाइएणं भन्ते ! पुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होई ?

गोयमा ! जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणिओ कालओ । खेत्तओ असंखेज्जा लोगा ।

एवं आउ-तेउ-वाउकाइयावि ।

वणप्फइकाइएणं भन्ते ! वणप्फइकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ । खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागो ।

भदन्त ! पृथ्वीकाय जीव का पृथ्वीकाय रूप में कितना काल बीतता है ?

गौतम ! कालापेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण असंख्यात काल व्यतीत होता है । क्षेत्रापेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है ।

इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के लिये समझना चाहिये ।

भगवन् ! वनस्पतिकाय का वनस्पतिकाय के रूप में कालापेक्षा कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप अनन्त काल है । क्षेत्रापेक्षा अनन्त लोकाकाश प्रदेश-प्रमाण अथवा असंख्यात क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन प्रमाण काल है । वे पुद्गलपरावर्तन आवलिका के असंख्यातवें भागगत समय प्रमाण जानना चाहिये ।

तसकाइएणं भंते ! तसकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दोसागरोवमसहस्साइं संखेज्जवाससहियाइं ।

पंचिदिएणं भंते । पंचेदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं साइ-रेणं ।

भगवन् ! त्रसकाय जीव त्रसकाय रूप में कितने काल तक होते हैं ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात वर्ष अधिक दो हजार सागरोपम पर्यन्त होते हैं ।

भगवन् ! पंचेन्द्रिय जीव पंचेन्द्रिय रूप में कितने काल तक रहते हैं ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक एक हजार सागरोपम तक रहते हैं ।

पुरिसवेणं भंते ! पुरिसवेए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं ।

भगवन् ! पुरुषवेद का पुरुषवेद रूप से कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक शतपृथक्त्व सागरोपम काल जानना चाहिये ।

(स्त्रीवेद के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य होने से उसका पृथक् निर्देश किया है ।)

नपुंसगवेए णं भंते ! नपुंसगवेए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एकसमयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणीओस्सप्पिणीओ कालओ । खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, आवलियाए असंखेज्जइ भागो ।

प्रभु ! नपुंसकवेद का नपुंसकवेद रूप से कितना काल होता है ?

गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल । कालापेक्षा वह अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है और क्षेत्रापेक्षा अनन्त लोक अथवा आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्य पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है ।

(नपुंसकवेद का यह कायस्थितकाल सांध्यवहारिक जीवों की अपेक्षा समझना चाहिए ।)

सन्नी णं भंते ! सग्नि त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं ।

हे प्रभो ! संज्ञी का संज्ञी पंचेन्द्रिय के रूप में रहने का कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक शतपृथक्त्व सागरोपम काल है ।

बायरेगिदियपज्जत्तए णं भंते ! बायरेगिदियपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तां, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं ।

भगवन् ! बारंबार बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न होते बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष का काल है ।

बायरपुढविकाइयपज्जत्तए णं भंते ! बायरपुढविकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तां, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं ।

एवं आउकाएवि ।

बायर तेउकाइयपज्जत्तए णं भंते ! बायरतेउकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तां, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं ।

वाउकाइए पत्तोयसरीरबायरवणप्फइकाइए य पुच्छ्या ।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तां, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं ।

भदन्त ! बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय का बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय के रूप में कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष का होता है ।

इसी प्रकार अप्काय के विषय में भी जानना चाहिये ।

प्रभो ! बादर पर्याप्त तेजस्काय का बादर तेजस्काय के रूप में रहने का कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात रात्रि-दिवस का है ।

बादर पर्याप्त वायुकाय और पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष प्रमाण है ।

बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं ।

एवं तेइंदियचउरिंदिए वि ।

प्रभो ! बारंबार द्वीन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते द्वीन्द्रिय का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात काल है ।

इसी प्रकार से त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का भी काल समझना चाहिये ।

बेइंदियपज्जत्तए णं भंते ! बेइंदियपज्जत्तए पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासाइं ।

तेइंदियपज्जत्तए पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं ।

चउरिंदियपज्जत्तए णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जा मासा ।

प्रभो ! पर्याप्त द्वीन्द्रिय रूप से उत्पन्न होते पर्याप्त द्वीन्द्रिय का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात वर्ष है ।

भगवन् ! पर्याप्त त्रीन्द्रिय रूप से उत्पन्न होते त्रीन्द्रिय पर्याप्त का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात रात्रि-दिवस प्रमाण है ।

भगवन् ! पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का पर्याप्त चतुरिन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते कायस्थिति काल कितना है ?

जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात मास है ।

अपज्जत्तए णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं वि अंतोमुहुत्तां, उक्कोसेण वि अन्तोमुहुत्तां ।

भगवन् ! अपर्याप्त रूप से उत्पन्न होते अपर्याप्त का कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल है ।

सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए सुहुमअपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तां, उक्कोसेणवि अन्तोमुहुत्तां ।

पुढविकाइय-आउकाइय-तेउकाइय-वाउकाइय-वणस्सइकाइयाण [वि एवं चेव ।

पज्जत्तयाण वि एवं ।

बायरनिगोयपज्जत्तए य बायरनिगोयअपज्जत्तए य पुच्छा ।

दुन्नवि जहन्नेण उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तां ।

प्रभो ! सूक्ष्म अपर्याप्त रूप से उत्पन्न होते सूक्ष्म अपर्याप्त का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त है ।

इसी प्रकार पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का भी कायस्थिति काल जानना चाहिये ।

इनके पर्याप्त का भी इतना ही काल समझना चाहिये ।

भगवन् ! बादर पर्याप्त निगोद और बादर अपर्याप्त निगोद रूप से उत्पन्न होते बादर पर्याप्त निगोद और बादर अपर्याप्त निगोद का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त है ।

सुहुमपुढविकाइए णं भंते ! सुहुमपुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखिज्जा लोगा ।

एवं सुहुमआउकाइए-सुहुमतेउकाइए-सुहुमवाउकाइए-सुहुमवणस्सइकाइए ।

प्रभो ! सूक्ष्म पृथ्वीकाय रूप से उत्पन्न होते सूक्ष्म पृथ्वीकाय का कायस्थिति काल कितना है ।

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कालापेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी और क्षेत्रापेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण जानना चाहिये ।

इसी प्रकार सूक्ष्म अप्काय, सूक्ष्म तेजस्काय, सूक्ष्म वायुकाय और सूक्ष्म वनस्पतिकाय के लिए भी समझना चाहिये ।

बायरे णं भंते ! बायरे त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असंखिज्जइभागं ।

बायरवणस्सइकाइए पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असंखिज्जइभागं ।

भदन्त ! बारम्बार बादर रूप से उत्पन्न होते बादर जीवों का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल है तथा क्षेत्र से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल है ।

भगवन् ! बादर वनस्पतिकाय रूप से उत्पन्न होते बादर वनस्पति जीव का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल है । क्षेत्र से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल है ।

आहारए णं भंते ! आहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! आहारए दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-छउमत्थ-आहारए केवलि-आहारए य ।

छउमत्थाहारए णं भंते छउमत्थाहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं खुड्डगभवग्गहणं दुसमयऊणं, उक्कोसेणं असखिज्जं कालं असखिज्जाओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असखिज्जइभागं ।

भगवन् ! काल से आहारक का आहाररूपता का कितना काल है ?

गौतम ! आहारक दो प्रकार के कहे हैं, यथा—१ छद्मस्थ आहारक, २ केवली आहारक ।

भगवन् ! छद्मस्थ आहाररूपने का कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से दो समय न्यून क्षुल्लकभव और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप असंख्यात काल है और क्षेत्र से अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण काल है ।

बायरपुढविकाइए णं भंते ! बायरपुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवम-कोडाकोडोओ ।

एवं बायरआउकाइए वि ।

एवं जाव बायरवाउकाए वि ।

पत्तयबायरवणस्सइकाइए णं भंते ! पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवम-कोडाकोडीओ ।

भगवन् ! बादर पृथ्वीकायपने में बादर पृथ्वीकाय का स्वकाय-स्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

इसी प्रकार बादर अप्काय का भी तथा यावत् बादर तेजस्काय, बादर वायुकाय का भी जानना ।

प्रभो ! प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय का प्रत्येक बादर वनस्पतिकायपने का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

बायरनिगोए णं भंते ! बायरनिगोएत्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवम-कोडाकोडीओ ।

भगवन् ! बादर निगोदपने में बादर निगोद का कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है ।

सुहुमे णं भंते सुहुमेत्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा ।

भगवन् ! सूक्ष्मपने से उत्पन्न होते सूक्ष्म का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात उत्सपिणी-अवसपिणी काल है एवं क्षेत्र से असंख्यात लोकप्रमाण काल है ।

निगोए णं भंते ! निगोएत्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अड्ढाइज्जा पोग्गल परि-यट्ठा ।

भगवन् ! कोई भी निगोद जीव बारम्बार निगोद में उत्पन्न हो तो उसकी कायस्थिति कितनी है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल की अपेक्षा अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण अनन्तकाल और क्षेत्र से ढाई पुद्गलपरावर्तन काल है ।

स्त्रीवेद विषयक कायस्थिति संबन्धी मतान्तर

इत्थीवेए णं भते ? इत्थीवेए त्ति कालओ कैवचिरं होइ ?

गोयमा !

१. एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं दसोत्तरं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ।

२. एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं अट्ठारस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ।

३. एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चोद्दस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ।

४. एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ।

५. एगेणं आएसेणं जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं पलिओवमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ति ।

भगवन् ! स्त्रीवेद का स्त्रीवेदपने में निरंतर कितना काल होता है ?

गौतम !

१. एक आदेश से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक एक सौ दस पलयोपम,

२. एक मत से जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक अठारह पल्योपम,

३. एक आदेश से जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक चौदह पल्योपम,

४. एक आदेश से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक सौ पल्लोपम,

५. एक आदेश से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपमपृथक्त्व होता है ।



अनेक जीवापेक्षा अन्तरकालसम्बन्धी प्रज्ञापनासूत्र का आवश्यक पाठ

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य

गम्भवक्कंतिर्यर्षिवदियंतिरिक्त्तजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ।

गम्भवक्कंतिर्यमणुस्साणं पुच्छा ।

गोयमा । जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ।

देव सामान्य

देवगई णं भंते केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ।

असुरकुमार आदि दस भवनपति देव

असुरकुमारा णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

नागकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

एवं सुवन्नकुमाराणं, विज्जुकुमाराणं, अग्गिकुमाराणं, वायुकुमाराणं, दीव-
कुमाराणं, उयहिकुमाराणं, दिशाकुमाराणं, थणियकुमाराणं, जहन्नेणं एगं समयं,
उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

वाणघ्यंतर देव

वाणमंतराणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

ज्योतिष्क देव

जोइसियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

वैमानिक देव

सोहमकप्पे देवा णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

ईसाणकप्पे देवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

सणन्तकुमारकप्पे देवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं नव राइंदियाइं वीसं मुहुत्ता ।

माहेंददेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं बारस राइंदियाइं दस मुहुत्ता ।

वंभलोयदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अद्धतेवीसं राइंदियाइं ।

लंतयदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं पणयालीसं राइंदियाई ।

महासुक्कदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असीइं राइंदियाई ।

सहस्सारदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं राइंदियसयं ।

आणयदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जा मासा ।

पाणयदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जा मासा ।

आरणदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जा वासा ।

अच्चुयदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जा वासा ।

हेट्ठिमगेवेज्जाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससयाइं ।

मज्झिमगेवेज्जाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं ।

उवरिमगेवेज्जाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससयसहस्साइं ।

विजयवेज्जयंतजयंतअरराजियदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स संखेज्जइभागं ।

नरकगति

निरयगई णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयमुक्कोसेणं वारस मुहुत्ता ।

रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

सक्करप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं सत्त राइंदियाइं ।

वालुयप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अद्धमासं ।

पंकप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं मासो ।

धूमप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं दो मासा ।

तमप्पभापुढविनरेइया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?
 गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चत्तारि मासा ।
 अहेसत्तमपुढविनेरइया णं भंते केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?
 गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा ।

संमुच्छिम मनुष्य

संमुच्छिममणुस्सां णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?
 गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता ।

विकलेन्द्रिय, संमुच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच

वेइंदिया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?
 गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं तेइंदियचउरि-
 दियसंमुच्छिमपंचिदियतिरिबखजोणियाण य पत्तेयं जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं
 अंतोमुहुत्तं ।

—प्रज्ञापनासूत्र, व्युत्क्रांतिपद

क्षुल्लकभव का प्रमाण

सबसे छोटे भव को क्षुल्लक या क्षुद्र भव कहते हैं। यह भव निगोदिया जीवों में पाया जाता है। क्योंकि उनकी स्थिति सब भवों की अपेक्षा अति अल्प होती है।

जैन कालगणना के अनुसार असंख्यात समय की एक आवली होती है और संख्यात आवली का उच्छ्वास-निश्वास होता है इत्यादि के क्रम से स्तोक, लव कहते हुए दो घटिका का एक मुहूर्त होता है। यदि एक मुहूर्त में श्वासोच्छ्वासों की संख्या मालूम करना हो तो १ मुहूर्त \times २ घड़ी \times ३८ लव \times ७ स्तोक आदि इस प्रकार सबको गुणा करने पर ३७७३ संख्या आती है। इन ३७७३ श्वासोच्छ्वास काल में यानि एक मुहूर्त में एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है। अतः ६५५३६ में ३७७३ से भाग देने पर $17 \frac{1354}{3773}$ लब्ध आता

है। जिसका आशय यह हुआ कि एक श्वासोच्छ्वास काल में सत्रह से कुछ अधिक क्षुल्लक भव होते हैं और उतने ही समय में २५६ आवली होती हैं।

आधुनिक कालगणना के अनुसार इसी क्षुद्रभव के काल का प्रमाण निकाला जाए तो उसको इस प्रकार समझना चाहिए—

एक मुहूर्त में अड़तालीस मिनट होते हैं और इस मुहूर्त यानि अड़तालीस मिनट में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। अतएव इन ३७७३ को ४८ से भाग देने पर एक मिनट में लगभग साढ़े अठहत्तर श्वासोच्छ्वास आते हैं। अर्थात् एक श्वासोच्छ्वास का काल एक सैकण्ड से भी कम का होता है। उतने काल में निगोदिया जीव सत्रह से भी अधिक बार जन्म-मरण करता है।

यह है क्षुल्लकभव की व्याख्या। जिससे उस क्षुद्रभव की क्षुद्रता का अनुमान सरलता से किया जा सकता है।

गो० जीवकांड में एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ क्षुद्र बताए है, यथा—
तिष्णिणसया छत्तीसा छावट्टि सहस्सगाणि मरणाणि ।

अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्भवा ॥१२३॥

अर्थात् लब्धयपर्याप्तक जीव एक अन्तर्मुहूर्त ६६३३६ बार मरण करता है । अतएव एक अन्तर्मुहूर्त में उतने ही यानि ६६३३६ क्षुद्रभव होते हैं और—

सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पंचक्खे ।

छावट्टि च सहस्सा सयं च वत्तीस भेयक्खे ॥१२४॥

उन ६६३३६ भवों में से द्वीन्द्रिय के ८०, त्रीन्द्रिय के ६०, चतुरिन्द्रिय के ४०, पंचेन्द्रिय के २४ और एकेन्द्रिय के ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं ।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के अनुसार एक श्वास में एकेन्द्रिय निगोदिया जीव के १८ क्षुद्रभव होते हैं ।



गाथा—अकाराद्यनुक्रमणिका

गाथांश	गा. सं./पृ.	गाथांश	... सं./पृ.
अणुभागठाणेषुं	४११०२	एगिदिया तिरिक्खा	७६१७८
अपज्जत्ता दोन्नि वि	२५१६४	कत्थ सरीरे लोए	३१५
असंखसेढिखपएसतुल्लया	१६१४७	किचिहिया सामन्ना	७६१७५
असंखा पण किचिहिय	७११६६	किं जीवा उवसमाइएहि	२१५
अहवा एक्कपईया	८१२६	खवगा खीणा जोगी	२४१६०
अहवंगुलप्पएस	१६१५१	खवगा खीणा जोगी	५३१९२६
अंगुलमूलासंखिय	२०१५३	गब्भयतिरिमणुमुर	५७१३४
आवलियाणं छक्कं	४२१०४	चउदसविहा वि जीवा	११३
आवलिवागो अन्तरावलीय	११३५	चउदसविहा वि जीवा	२६१७२
आईसाणं अमरस्स	५३१४९	छट्ठाए नेरइओ	३२१७६
इगदुमजोगाईणं	७१२६	छप्पन्नदोसयंगुल	१५१४५
ईसाणे सव्वत्थवि	६८१६३	छप्पन्नदोसयंगुल	१८१४६
उक्कोसपए संता मिच्छा	८११८२	तत्तोणुत्तर देवा	६६१४८
उक्कोसपए मणुया	२११५३	तत्तो नपुंसखहयर	७०१९६७
उवसमसेढी उवसंतया	५५१३१	तसबायरसाहारण	५८१३७
उवसामग उवसंता	३३१७६	तेरस विबंधगा ते	८४१८५
उवसंत खवग जोगी	८०१७६	थावरकालुक्कोसो	६०१४३
उस्सप्पिणि समएसु	४०१००	थोवा गब्भयमणुया	६५१५७
एगाइ चउपण्णा समगं	२३१६०	पजत्तापजत्ता	१२१३८
एगिदिय सुहुमियरा	८२१८३	पज्जत्तबायरपत्त यतरू	७२१७०
एगिदित्तं समयं	५४१२६	पज्जत्तापज्जत्ता	७८१७६
एगिदियाणणंता	४६११३	पत्तेय पज्जवणकाइयाउ	१०१३३

गाथांश	गा. सं./पृ.	गाथांश	गा. सं./पृ.
पत्तये बादरस्स उ	५०।१२२	सत्तण्हमपज्जाणं	३४।८५
पलियासंखो सासा.....	६१।१४५	सन्ती चउसु गईसु	१३।३६
पुढवाईचउ चउहा	५।२२	समयाओ अंतमुहु	४५।१०८
पुरिसत्तं सन्नित्तं	४८।११७	समयाओ अंतमुहु	४५।१११
पुव्वकोडिपुहुत्तं	४७।११५	सम्माइ चउसुतिय	६४।१५३
पोगलपरियट्टो इह	३७।६४	सम्माई त्तिन्नि गुणा	६३।१५२
पंचेन्द्रिय तिरियाणं	२८।६८	सहसारंतिय देवा	३१।७६
बत्तीसा अडयाला	५६।१३२	सासण मीसाओ	५२।१२६
बादर तरू निगोया	७३।१७२	सासायणाइचउरो	२२।५६
बायरपज्जेगिंदिय	४६।१२०	सासायणाइ सव्वे	२६।६७
बावीस सहस्साइं	३५।८६	साहारणाण भेया	६।३१
मिच्छा अविश्यदेसा	६।२५	सुक्कमि पंचमाए	६७।१५८
मिच्छा सासणमिस्सा	८३।१८४	सुरनेरइया तिसु तिसु	४।२०
मीसा अजया अड अड	३०।७५	सुहुमा वणा असंखा	७७।१७५
मोह्ठिई बायराणं	५१।१२४	सेठीएक्केक्कपएसरइय	१७।४६
रयणप्पभिया खहयर	६६।१६५	संखेज्जगुणा तत्तो	७५।१७४
लोगस्स पएसेसु	३६।६८	संखेज्जजोयणाणं	१४।४४
वासपुहुत्तं उवसामगाण	६२।१५१	संखेज्ज सुहुम पज्जत्त	७४।१७३
वेयग अविश्य सम्मो	४३।१०६	संसारंमि अडंतो	३८।६५
वेयण-कसाय-मारण	२७।६८	होइ अणाइ अणंतो	३६।६२



प्रस्तुत ग्रन्थ : एक परिचय

कर्मसिद्धान्त एवं जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर (विक्रम ६-१० शती) द्वारा रचित कर्मविषयक पांच ग्रन्थों का सार संग्रह है—पंच संग्रह ।

इसमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बन्धनादि आठ करण एवं अन्य विषयों का प्रामाणिक विवेचन है जो दस खण्डों में पूर्ण है ।

आचार्य मलयगिरि ने इस विशाल ग्रन्थ पर अठारह हजार श्लोक परिमाण विस्तृत टीका लिखी है ।

वर्तमान में इसकी हिन्दी टीका अनुपलब्ध थी ! श्रमणसूयं मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जो महाराज के सान्निध्य में, तथा मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी की संप्रेरणा से इस अत्यंत महत्वपूर्ण, दुर्लभ, दुर्बाध ग्रन्थ का सरल हिन्दी भाष्य प्रस्तुत किया है—जैनदर्शन के विद्वान् श्री देवकुमार जैन ने ।

यह विशाल ग्रन्थ क्रमशः दस भागों में प्रकाशित किया जा रहा है । इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जैन कर्म सिद्धान्त विषयक एक विस्तृतप्रायः महत्वपूर्ण निधि पाठकों के हाथों में पहुंच रही है, जिसका एक ऐतिहासिक मूल्य है ।

—श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'

प्राप्ति स्थान :—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)